उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

विकासात्मक मनोविज्ञान: जीवन विकास मनोविज्ञान (एमएपीएसवाई-612)

Developmental Psychology: life span Psychology (MAPSY-612)

अनुक्रमणिका

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	जीवन विकास: परिभाषा, संकल्पना, सिद्धान्त एवं विशेषताएँ, अभिवृद्धि एवं विकास में अंतर (Life Span Development: Definition, Concept, Principles and Characteristics, Difference between Growth and Development)	1-9
2.	मानव विकास के सिद्धान्त : मनोविश्लेषणात्मक (फ्राइड एवं इरिकसन), मानवतावादी (मेस्लो एवं रोजर्स) और व्यवहारवादी (पॉवलव एवं स्किनर) (Theories of Human development: Psychoanalytic (Freud & Erickson), Humanistic (Maslow & Rogers) and Behavioristic (Pavlov & Skinner)	10-21
3.	प्रसवकालीन विकास: प्रसवकालीन, प्रसूति-पूर्व एवं प्रसव के बाद का विकास (Perinatal development: Prenatal, Antenatal and Postnatal Development)	22-36
4.	शारीरिक, क्रियात्मक एवं मनोसामाजिक विकास(Physical, Motor and Psycho-Social Development)	37-51
5.	प्रत्यक्षात्मक विकास, भाषा विकास एवं वाणी विकासएवं संज्ञानात्मक विकास (Perceptual Development, Language &Speech Development, Cognitive Development)	52-65
6.	प्रारम्भिक वर्षों में सम्बंध - संलग्नता सिद्धांत एवं बच्चे के पालन का अभ्यास (Relationship in Early years: Attachment Theory and Child Rearing Practices)	66-83
7.	विकासात्मक विकृति की जाँच एवं निर्धारण, अधिगम विकृति एवं वाणी विकृति (Screening and Assessment for Developmental Disorders, Learning Disorder and Speech Disorder)	84-102
8.	किशोरावस्था की विशेषताएँ, किशोरावस्था में शारीरिक विकास एवं समायोजन (Characteristics of, Physical Development and Adjustment in Adolescence)	103-116

9.	किशोरावस्था के दौरान सामाजिक बदलाव- पहचान, आत्म-संप्रत्यय एवं आत्म-सम्मान (Social Changes during Adolescence- Identity, Self-Concept and Self-Esteem)	117-134
10.	यौन-रुचि एवं व्यवहार,परिवार एवं साथी-समूह के साथ संबंध (Sex-Interest and Behavior, Relationships with Family and Peer group)	135-146

इकाई 1. जीवन विकास: परिभाषा, संकल्पना, सिद्धान्त एवं विशेषताएँ, अभिवृद्धि एवं विकास में अंतर *(Life Span Development: Definition, Concept, Principles and Characteristics, Difference between Growth and Development)*

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 विकास का अर्थ

1.3 विकास के संप्रत्यय

1.4 विकास के नियम

1.5 विकास की विशेषतायें

1.6 वृद्धि एवं विकास में अन्तर

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 अभ्यास प्रश्न

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.11 सन्दर्भ पुस्तक

1.0 उद्देश्य:-

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:-

i) मानव विकास की परिभाषा एवं प्रकृति को जान सकेंगे।

ii) मानव विकास के प्रमुख सप्रत्ययों को जान सकेंगे।

iii) विकास की विशेषताओं तथा नियमों को जान सकेगे।

iv) वृद्धि एवं विकास में अन्तर को जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना-:

जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में प्राणी के भीतर अभिवृद्धि तथा बाद की अवस्थाओं में ह्रास के लक्षण उत्पन्न होते हैं। रचनात्मक परिवर्तन प्राणी को परिपक्वता की ओर बढ़ाते हैं, जबकि ह्रास सम्बन्धी परिवर्तन उसे वृद्धावस्था की ओर ले जाते हैं। साधारण शब्दों में विकास एक ऐसी अवधारणा हैं जिसमें किसी मनुष्य का विकास जन्म से लेकर बुढ़ापे तक की अवस्था में होने वाले विकास का अध्ययन किया जाता है। विकास में होने वाले अलग-अलग परिवर्तनों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

1. मात्रात्मक बदलाव- कुछ परिवर्तनों को उनके आकार या मात्रा के आधार पर पहचाना जाता है। इस प्रकार के बदलावों को मात्रात्मक बदलाव कहा जाता है। उदाहरण - किसी बालक की ऊँचाई, मोटाई या भार में होने वाली वृद्धि या कमी मात्रात्मक परिवर्तन है।

*2. **गुणात्मक बदलाव** - कुछ बदलाव इस तरह के होते हैं जो अपनी विशेषता की वजह से जाने जाते हैं । इस बदलाव को गुणात्मक बदलाव कहते हैं ।*

***उदाहरण-** बच्चों के शारीरिक और मानसिक विकास में आए परिवर्तन को 'गुणात्मक' कहा जाएगा क्योंकि अब वह ऐसे कौशलों का प्रदर्शन कर रहा है, जो जन्म के समय उसके भीतर नहीं पाये जाते थे। इन्हीं गुणात्मक परिवर्तनों के कारण विकास की विभिन्न अवस्थाएँ एक-दूसरे से भिन्न दिखलाई पड़ती हैं।*

ये दोनों प्रकार के परिवर्तन आपस में संबंधित होते हैं। विकास की किसी भी अवस्था में मात्रात्मक परिवर्तन समाप्त नही होते हैं। उनके साथ गुणात्मक पक्ष भी होता है। जब किसी बालक को शब्दों की जानकारी होने लगती है, तब वह साथ ही विभिन्न शब्दों के अर्थ-भेद को समझने लगता है और किसी विचार अथवा भाव को व्यक्त करने के लिए शब्दों का सही चयन करता है।

विकास की प्रत्येक अवस्था में शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों की गति, मात्रा और दिशा परिवर्तित होती रहती है। मनुष्य एक परिवर्तनशील प्राणी है। मनुष्य की आयु जैसे-जैसे बढ़ती है वैसे-वैसे उसमें नये-नये गुणों का विकास होने लगता है। जीवित और सक्रिय बने रहने के लिए प्राणी के भीतर निरन्तर परिवर्तनों का होना आवश्यक हे। इन्हीं शारीरिक-मानसिक परिवर्तनों, गुणों तथा विशेष ताओं की नियमित और क्रमिक उत्पत्ति को विकास कहा जाता है। यह विकास मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों प्रकार का होता है।

1.2 विकास का अर्थ:

विकास एक शारीरिक पक्ष है। इसके अन्तर्गत गर्भावस्था से लेकर परिपक्वास्था तक का अध्ययन किया जाता है।

***हरलॉंक के अनुसार,** ''विकासात्मक मनोविज्ञान-मनोविज्ञान की वहा शाखा है जो गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त जीवन के विभिन्न कालों में होने वाले परिवर्तनों पर विशेष ध्यान देते हुए मानव विकास का अध्ययन करता है। उनके अनुसार ''प्रारम्भ में केवल स्कूल जाने के पहले की आयु के बच्चों के विकास में रूचि ली जाने लगी। इसके बाद नवजात शिशु और जन्म से पहले की असकी अवस्था पर भी ध्यान दिया जाने लगा।*

***ए. वी. हरलॉंक,** ''विकास का अर्थ प्रगतिशील परिवर्तनों का एक नियमित, क्रमबद्ध एवं सुसम्बद्ध प्रतिमान है।''*

विकास के अन्तर्गत जो भी परिवर्तन होते है उनकी दिशा अग्रगामी होती है। विकास द्वारा आये परिवर्तन व्यक्ति को पूर्व अवस्था से आगे आनेवाली अवस्था की ओर अग्रसर करते हैं। जन्म से समय जो शिशु अकेला, होता है। विकास क्रम में वह हर प्रकार की क्रियाओं जैसे- उठने, बैठने, चलने, दौड़ते आदि में सक्षम हो जाता है। इसलिए हरलाक ने 'विकास को परिवर्तन कहा है'।

हरलॉक के अनुसार, विकास एक क्रमिक प्रक्रिया है क्योंकि इसके अन्तर्गत आनेवाले सभी परिवर्तन क्रम से होते हैं। एक कोई निश्चित परिवर्तन के पहले या बाद में घटित होता है।

***उदाहरण** -गति के विकास क्रम में बच्चे पहले रेंगना, खिसकना, बैठना और तब चलना आरम्भ करते हैं। इन क्रियाओं का एक निश्चित क्रम है जिसका अनुकरण सभी सामान्य बालकों के गति विकास में होता है। यदि विकास क्रम से नहीं होता, तो इसका भविश्य कथन या पूर्वकथन भी सम्भव नही हो पाता ।*

गर्भ में आने के बाद ही ¬प्राणी के भीतर वृद्धि एवं विकास के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। शारीरिक एवं मानसिक संरचना में समय-समय पर अनेक मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन दिखायी पड़ने लगते हैं । प्राणी अपने सम्पूर्ण जीवन काल में कभी भी एक सा नहीं रख पाता है।जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पहुंचने पर उसके भीतर नयी-नयी विशेष ताए आने लगती है और पुरानी विशेषता खत्म होती रहती है। जीवित और सक्रिय

बने रहने के लिए प्राणी के भीतर निरन्तर परिवर्तन होना आवश्यक है। इन्हीं शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों गुणों तथा विशेष ताओं की नियमित और क्रमिक उत्पत्ति को में 'विकास' के नाम से जाना जाता है।

*विकास का तात्पर्य है, **'व्यवस्थित और संगतिपूर्ण तरीके से परिवर्तनों का एक प्रगतिशील श्रृंखला में होना।'** व्यक्ति के जीवन में दो अवस्थाएँ ऐसी आती है जब शारीरिक परिवर्तन उन पर नियंत्रण करने के लिए व्यक्ति की शक्ति को चुनौती देते है। ये दोनों अवस्थाएँ यौवनारम्भ एवं जनन शक्ति के ह्रास की अवस्थाएँ हैं। (स्त्रियों में रजो नि वृत्ति और पुरूषों में काम क्षय की अवस्था) जीवित और क्रियाशील बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि प्राणी जीवन-पर्यन्त परिवर्तन करता चले। ये परिवर्तन शरीर की कोशिकाओं, ऊत्तकों रसों, और रसायनिक घटकों के बदलाव के रूप में भी होते हैं, तथा संवेगों, व्यवहारों और व्यक्तित्व में भी। इन अवस्थाओं में कुछ परिवर्तन विकास कर रहे होते है कुछ विकास की चरम सीमा पर होते है और कुछ ह्रास की अवस्था में होते हैं। मनुष्य कभी एक जैसा नहीं रहता। गर्भावस्था से लेकर मृत्यु तक वह बदलता रहता है। व्यक्ति का जीवन एक सूक्ष्म अणु से शुरू होता और अपनी सम्पूर्ण आयु के केवल पाँचवें या इससे भी छोटे भाग में वह पाँच या कम और छः फुट के बीच की लम्बाई वाला तथा पचासी और दो सौ पचास (250) पौंड के बीच वजन वाला आकार धारण कर लेता है। जन्म के समय वजन गर्भाधान के वजन का एक करोड़ दस लाख गुना हो जाता है। जन्म के बाद वृद्धि की गति धीमी पड़ती जाती है और बीस वर्ष के कुछ पहले या बाद में स्थिर हो जाती है। बालक की वृद्धि जन्म से लेकर 25 वर्ष की आयु तक एक समान गति से बढ़ती रहती। उसके बाद पश्चगति के कारण वह धीरे-धीरे या तेजी से घटने लगती है।*

शारीरिक ह्रास सदैव मानसिक ह्रास से पहले शुरू होता है। मनुष्य का जीवन एक घण्टी के आकार का बक्र है या सामान्य सम्भाव्यता वक्र के समान है। जो प्रारम्भ में एकाएक ऊपर चढ़ता है। फिर मध्य में कुछ चपटा हो जाता हे। और जीवन के अंतिम वर्षो में धीरे-धीरे या एकाएक नीचे गिरता है। जीवन के स्वरूप को कभी भी एक सीधी रेखा के द्वारा नहीं दिखाया जा सकता है। ''आदमी का विकास कभी स्थिर नहीं रहता। मस्तिष्क का वजन बढ़ता है और घटता है। न्यूनतम चयापचय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, और गिर जाता है। अंतःस्त्रावी ग्रन्थियों की क्रियाएँ बढ़ती है और घटती है। स्वाद की शक्तियाँ और सुख-दुख का अनुभव करने की क्षमता, से बढ़ती-घटती है। लैंगिक क्षमताएँ बढ़ती एवं घटती है। बुद्धि और मानसिक विकास धीरे-धीरे कम होते जाते हैं। इसके साथ-साथ रूचियों एवं अभि वृत्तियों में अस्थिरता दिखायी देने लगती है।

विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है और किसी अवस्था विशेष में होने वाले परिवर्तन से ये परस्पर जुड़े हुए होते हैं। प्राणी का विकास कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में प्राणी की क्षमताओं और व्यवहारों के स्वरूप् में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखे जाते हैं। ये परिवर्तन केवल मात्रात्मक ही नहीं होते है बल्कि गुणात्मक भी होते हैं।

उदाहरण -बचपन में बच्चे का सामाजिक सम्बन्ध अपने परिवार के सदस्यों तक ही सीमित रहता है। किन्तु बाल्यावस्था में पहुंचने पर वह घर से बाहर के बालकों के साथ अधिकांश समय व्यतीत करने लगता है और उसके गिरोह में उसी के यौन के बालक पाये जाते हैं। किशोरावस्था में पहुँचकर वही बालक विपरीत यौन के सदस्यों में अधिक रूचि लेने लगता है। मनुष्य के विकास की प्रत्येक अवस्था में होने वाला व्यवहार उस अवस्था के लिए स्वाभाविक होता है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है वैसे-वैसे उसके व्यवहार में भी परिवर्तन दिखाई देने लगते है।

परिभाषायें:-

1. हरलॉक के अनुसार-''प्राणी में होने वाले गुणात्मक परिवर्तनों को विकास कहा जाता है।

2. सेल के अनुसार, ''विकास एक तरह का परिवर्तन है। जिसमें बच्चों में नवीन विशेष ताओं एवं क्षमताओं का विकास होता है।''

3 स्टाट, ''विकास समय के साथ होने वाला परिवर्तन है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका प्रेक्षण प्रतिफलों के अध्ययन द्वारा किया जाता है।''

1.3 विकास के संप्रत्यय:

प्रसिद्ध मनोविज्ञानी हरलाक के अनुसार विकास के निम्नलिखित तीन संप्रत्यय है-

*1. **अग्रोन्मुख संप्रत्यय** - प्राणी में होने वाले जिन परिवर्तनों का नाम विकास है वे हमेशा अग्रोन्मुख होते हैं, पृश्ठोन्मुख नहीं। विकास में होने वाले परिवर्तन प्राणी को पिछली अवस्था में आगे आने वाली अवस्था से ले जाते हैं।*

उदाहरण- जब शिशु जन्म लेता है तो वह एक मांस के टुकड़े के समान होता हैं लेकिन शिशु की आयु में जैसे-जैसे विकास होता हे वह वैसे वैसे सभी प्रक्रियाओं को करने लगता है जैसे- उठना, बैठना, दौड़ना आदि इसलिए विकास को अग्रोन्मुख या प्रगतिशील कहा गया है।

*2. **क्रमिकता संप्रत्यय** - उनका मानना है कि प्राणी में होने वाले सभी परिवर्तन एक निश्चित क्रम में होते हैं। कोई विशिष्ट परिवर्तन एक निश्चित परिवर्तन के बाद ही होता है।*

उदाहरण - विकास-क्रम में बच्चा पहला रेंगना फिर बैठना, फिर खड़ा होना और बाद में चलना सीखता है। इन सभी क्रियाओं का क्रम निश्चित होता है और कभी भी नहीं बदलता। क्रमबद्ध होने के कारण ही विकास सम्बन्धी परिवर्तनों के विषयों में पूर्वकथन कर सकना सम्भव हो पाता है।

*3. **परस्पर संबंधित तत्व** - विकास-क्रम में होने वाले अनेक परिवर्तन आपस में सम्बन्धित होते हैं। अक्सर देखा जाता है कि जिस बालक में क्रियात्मक विकास शीघ्र होता है उसके भीतर संवेगात्मक, भावात्मक एवं सामाजिक विकास भी शीघ्र ही होता है। विकास एक योजनाबद्ध प्रक्रिया है तथा विकास के विभिन्न रूप आपस में सम्बद्ध होते हैं। ये एक-दूसरे के साथे जुड़े होते हैं। यदि एक प्रकार का विकास रूक जाता है तो अन्य प्रकार के विकास भी रूक जाते हैं।*

1.4 विकास के नियम

विकास के मुख्य नियम निम्नलिखित है-

1. ***विकास के प्रतिमान, पूर्व कथनीय होते हैं** - विकास की प्रत्येक अवस्था में कुछ विशेष प्रकार के गुणों की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक प्रजाति या वर्ग, मानव या पशु के विकास का एक निश्चित प्रतिमान होता है जो उस वर्ग के लिए सामान्य होता है। सभी सामान्य बालकों में ये गुण अधिकतर एक ही अवस्था में उत्पन्न होते हैं। बच्चों के माता-पिता तथा अभिभावकों के लिए यह सम्भव है कि वे किसी विशेष अवस्था में बालक में होने वाले परिवर्तनों की भविष्यवाणी कर सके। किन्तु इस प्रकार की भविष्यवाणी केवल सामान्य बालकों के बारे में ही की जा सकती है। भविष्यवाणी की उपयोगिता बालकों की शिक्षा की दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती है। जन्म के बाद के विकास में भी ये परिवर्तन नियमित तरीके से प्रकट होते हैं जबकि प्रत्येक बालक में व्यक्तित्व विकास की गति भिन्न हो सकती है। विकास के द्वारा जो पूर्व कथन होता है उसका शिक्षा की योजना, तथा व्यावसायिक योजना की दृष्टि से बहुत महत्व है।*
2. ***विकास का निश्चित क्रम होता है** - बालक का विकास व्यवस्थित और एक निश्चित क्रम में होता है इसके अनेको प्रमाण है। जन्म के पूर्व के जीवन में जो विकास होता है उसका सिर से पैरों की ओर होता है। जब*

शिशु मॉ के गर्भ में होता है तो उसके शरीर के विभिन्न क्षेत्रों की रचना और नियंत्रण पहले सिर के भाग में होती है तब धड़ में और अन्त में पैरों के हिस्से में। जन्म के बाद विकास में यही पाया जाता है। सिर वाले हिस्से के भाग पैर वाले हिस्से की अपेक्षा जल्दी विकास करते हैं। शारीरिक क्रियाओं के विकास का क्रम निम्न तरह से होता है।

1. मस्तकाधोमुखी

2. निकट-दूर क्रम

1. ***मस्तकाधोमुखी क्रम*** *- शारीरिक विकास में एक विशेष क्रम पाया जाता है। जैसे- शारीरिक संरचना में उन्नति और विभिन्न अंगों के नियंत्रण की क्षमता सबसे पहले सिर के क्षेत्र में आती है। तब धड़ के भाग में और अन्त में पैरों के क्षेत्र में। सिर तथा इसके आस-पास के भागों जैसे-गर्दन एवं मुहँ की क्रियाएँ सर्वप्रथम विकसित होती हैं । इसके बाद पेट एवं धड़ और अन्त में पैरों के क्षेत्र में क्रियाएँ विकसित होती है। यही मानसिक क्रियाओं के विकास में भी दिखाई देता है। शिशुओं में संवेदनाओं का विकास सबसे पहले शरीर के ऊपरी भागों से प्रारम्भ होता है।*
2. ***निकट-दूर क्रम*** *- इस क्रम के अनुसार शरीर के केन्द्रीय भागों में विकास पहले होता है। विकास केन्द्र से दूरवर्ती भागो की ओर चलता है। जैसे-धड़ एवं पेट के क्षेत्रों में शीघ्र क्रियाशीलता दिखाई देती है। हाथ और पैरों की अंगुलियों में सबसे अन्त में क्रियाशीलता दिखाई देती है। क्योंकि ये अंग शरीर के केन्द्र से दूर होते हैं। इस क्रम के अनुसार शरीर के केन्द्रीय भाग पहले और दूरवर्ती भाग बाद में विकसित होते हैं।*
3. ***विकास सामान्य से विशिष्ठ की ओर अग्रसर होता है-*** *विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर होता है। मानसिक तथा गतिक अनुक्रियाओं में सामान्य क्रियाएं पहले उत्पन्न होती है और विशिष्ठ क्रियाएं बाद में विकसित होती है। गर्भावस्था में भ्रूण पहले सामान्य अनुक्रियाएं करते है, और फिर विशिष्ट अनुक्रियाएं करते हैं। समय के साथ धीरे-धीरे सामान्य से विशिष्ठ अनुक्रियाएं विकसित होती है। उदाहरण -प्रारम्भ में खिलौना देखकर शिशु सम्पूर्ण शरीर को घुमाने का प्रयास करते हैं। किन्तु धीरे-धीरे परिपक्वता की प्राप्ति के बाद हाथ खिलौनों की ओर ले जाते हैं । यही नियम मानसिक क्रियाओं के विकास में भी लागू होता है। उदाहरण - जब नवजात शिशु को प्रेक्षण करते है और उससे यह पता चलता है कि आरम्भ में उसके हाव-भाव द्वारा किसी विशिष्ट संवेग की अभिव्यक्ति नहीं होती है। वे केवल एक प्रकार की सामान्य उत्तेजना व्यक्त करते हैं। कुछ समय बाद वे क्रोध, भय एवं प्रेम आदि विशिष्ट संवेगों को अभिव्यक्त करने लगते है। इससे यह पता चलता है कि सांवेगिक विकास भी सामान्य से विशिष्ठता की ओर होता है।*
4. ***विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है*** *- विकास की प्रक्रिया प्राणी के जीवन में निरन्तर चलती रहती है। इसकी गति किसी अवस्था में तीव्र या कम हो सकती है। मानव का जो कुछ विकास एक अवस्था में हो चुका है व स्थिर रहता है, और आने वाली अवस्थाओं को प्रभावित करता है। विकास के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों होते हैं। शारीरिक विकास गर्भावस्था से प्रारम्भ होकर परिवक्वता प्राप्त करने तक निरन्तर चलता रहता है। जन्म के कुछ महीनों बाद तक तो बच्चा केवल हाथ-पैर ही उछालता है, धीरे-धीरे जैसे जैसे विकास होता है उसकी क्रियाएं आगे चल कर उठने-बैठने, चलने-फिरने, दौडने-भागने आदि क्रियाओं में बदल जाती है। दॉत निकलने की क्रिया जन्म के पॉच महीने पूर्व ही प्रारम्भ हो जाती है, और जन्म के पॉच छः महीनों के बाद बच्चे के दॉत निकलते है। सभी दांतों के निकलने में लगभग डेढ़ वर्ष का समय लगता है। गर्भाधान के बाद ही प्राणी में विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, ओर जीवन किसी न किसी रूप में चलती रहती है।*

5. ***विकास में क्रांतिक अवस्था होती है:-*** *क्रांतिक काल उस समय को कहा जाता है जिसमें किसी घटना का बालक के विकास पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। जब यह वक्त बीत जाता है तो प्रभाव केवल कुछ ही समय का पड़ पाता है। फ्रायड के अनुसार ''शैशव की क्रांतिक अवधियों में बालक जिन अनुभूतियों से गुजरता है वे आगे चलकर उसके व्यक्तित्व और व्यवहार में दिखायी पड़ती है।'' इरिक्सन ने ''मानव जीवन को आठ अवस्थाओं में विभक्त किया है जिनमें से प्रत्येक अवस्था एक विशिष्ट स्तर की सामाजिक एवं सांवेगिक अनुभूतियों के विकास के लिए एक क्रांतिक अवधि होती है।*
6. ***विकास के प्रत्येक अवस्था की अपनी विशेषता होती है।-*** *विकास की प्रत्येक अवस्था का विशेष गुण होता है। उदाहरण: गर्भकालीन अवस्था बाल्यकाल और बचपन की अवस्थाएं शारीरिक विकास के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसके विपरीत वयःसन्धि काल में कामुकता का आरम्भ तथा किशोरावस्था सामाजिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है। बाल्यावस्था में बालक अपनी मॉसपेशियों पर नियंत्रण करना सीखता है। वह अपने वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करने की कोशिश करता है। किशोरावस्था में सामाजिक सम्बन्धों, भावनाओं तथा वासनाओं का बाहुल्य होता है। जिसके कारण बालक नेतागिरी, वीरपूजा, दिवास्वप्नों तथा आदर्शवादिता के नित नवीन गुणों का प्रदर्शन करता है।*

1.5 विकास प्रक्रिया की विशेषतायें-

1. *विकास की प्रक्रिया में बालक की विभिन्न शारीरिक-मानसिक क्षमताओं का विकास लगातार चलता रहता है, किन्तु न तो सभी अवस्थाओं में होने वाले विकास की गति समान होती है। आयु के साथ गर्भावस्था में बढ़ते बच्चे, शिशु अवस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, तक शारीरिक और मानसिक विकास होता है। यह विकास कभी तेज गति से होता है और कभी कम। मानसिक विकास में भी यह विशेष ता देखने को मिलती है।*
2. *विभिन्न मानसिक प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न आयु में परिपक्व होती है। बालक में सृजनात्मक कल्पना बाल्यावस्था में विकसित होती है और किशोरावस्था के प्रारम्भ वर्षों में ही परिपक्व हो जाती है। इसके विपरीत, तार्किक क्षमता धीरे-धीरे विकसित होती है। स्थूल वस्तुओं की स्मृति तीव्र गति से किन्तु सूक्ष्म वस्तुओं की स्मृति मन्द गति से विकसित होती है।*
3. *विकास अवस्था के विभिन्न चरणों में विभिन्न गुण दिखाइ देते हैं। उदाहरण के लिए, गर्भकालीन अवस्था, बाल्याकाल और बचपन की अवस्थाएँ शारीरिक विकास के लिए विशेष चर्चित हैं। इसके विपरीत वयः संधि कामुकता के उदय के लिए तथा किशोरावस्था सामाजिक विकास के लिए प्रसिद्ध है। बचपन में बालक अपनी कुछ शक्तियों पर रोक लगाना सीखता है यही बात इस अवस्था का विशिष्ट गुण है। बाल्यावस्था में बालक अपने वातावरण के साथ अपना समायोजन स्थापित करने में व्यस्त रहता है । किशोरावस्था में सामाजिक सम्बन्धों, भावनाओं तथा वासनाओं की अधिकता होती है जहाँ बाल्यावस्था में बालक अपने ही यौन के बालकों में रूचि प्रदर्शित करता है वहीं किशोरावस्था में यही रूचि विपरीत यौन के सदस्यों के साथ सामाजिक समायोजन के लिए विशेष रूप से जानी जाती है। अपने इन विशेष गुणों के कारण ही एक अवस्था दूसरी अवस्था अलग की जा सकती है।*
4. *विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है जो कभी रूकती नहीं है परन्तु किसी विशिष्ट अवस्था में उसकी गति कभी-कभी कम या तीव्र हो जाती है। यह बात शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की क्रियाओं में पायी जाती है। यदि हम शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की क्रियाओं में पायी जाती है। यदि हम शारीरिक विकास पर ध्यान दे तो पायेंगे कि यह गर्भावस्था से प्रारम्भ होकर परिपक्वता प्राप्त करने तक*

निरंतर चलती रहती है। जन्म के कुछ महीनों बाद तक तो बच्चा केवल हाथ-पैर ही फेंकता है, किन्तु यही क्रियाएँ आगे चलकर उठने-बैठने, चलने-फिरने, दौड़ने-घूमने, खेलने-कूदने की क्रियाओं में बदल जाती है। यह कहा जा सकता है कि गर्भाधान के बाद ही प्राणी में विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और जीवनपर्यन्त किसी न किसी रूप में चलती रहती है।

1.6 विकास एवं वृद्धि में अन्तर

आमतौर पर वृद्धि एवं विकास इन दोनों का उपयोग एक दूसरे के स्थान पर करते हैं। किन्तु इनके अर्थ एक-दूसरे से भिन्न है।

1. वृद्धि का तात्पर्य-प्राणी का सकारात्मक विकास है जिसके द्वारा भौतिक एवं दैहिक परिवर्तन आते हैं। विकास के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन जीवन भर चलते रहते हैं। जो केवल मात्रात्मक ही नहीं होते है बल्कि गुणात्मक भी होते हैं। इसमें धनात्मक (सकारात्मक) पक्ष के साथ-साथ ऋणात्मक पक्ष भी शामिल होता है। कुछ परिवर्तन प्रगतिशील होते है, तथा अन्य कारणों से धीरे-धीरे प्राणी शारीरिक एवं मानसिक रूप से कमजोर हो जाता है। जैसे- वृद्धावस्था में आनेवाले परिवर्तनों से शरीर के अंगों में गिरावट के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

2. वृद्धि का सम्बन्ध संरचनात्मक परिवर्तनों तक ही सीमित है तथा विकास का सम्बन्ध प्रकार्यात्मक परिवर्तनों से है।

3. वृद्धि प्रक्रिया में समन्वय का होना आवश्यक नहीं है जबकि प्रत्येक प्रकार का विकास समन्वित एवं संकलित होता है।

4. वृद्धि प्रक्रिया लगभग 20 से 25 वर्ष तक लगभग पूरी हो जाती है जबकि विकास जीवन भर चलता है।

1.7 सारांश

विकासात्मक मनोविज्ञान के अनुसार गर्भ में आने के साथ ही व्यक्ति में विकास प्रारम्भ हो जाता है और विकास की ये प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है।

i) विकास की प्रक्रिया में संरचनात्मक और कार्यात्मक परिवर्तन होते हैं। जीवन के पूर्वाद्ध में होने वाले परिवर्तन मुख्य रूप से रचनात्मक होते है जबकि उत्तरार्द्ध में ह्रासात्मक होते हैं।

ii) विकास के अनेक नियम होते हैं और इन्हीं नियमों के अनुसार विकास में विविध प्रकार के व्यवहार-सम्बन्धी परिवर्तन घटित होते रहते हैं।

iii) विकास की प्रक्रिया क्रमिक व क्रमबद्ध होती है क्योंकि प्रत्येक परिवर्तन एक निश्चित समय के बाद ही होता है।

iv) विकास एक व्यापक संप्रत्यय है, जबकि वृद्धि एक विशिष्ट प्रकार के विकास की ओर संकेत करती है।

v) विकास मानसिक क्रियाओं की ओर संकेत करता है जबकि वृद्धि शारीरिक संरचना की ओर।

1.8शब्दावली

1. *अभि वृत्ति - किसी वस्तु या व्यक्ति के बारे में सोचने अनुभव करने या उसके प्रति विशेष ढंग से कार्य करने की तत्परता की स्थिति को अभि वृत्ति कहते हैं।*
2. *शीलगुण - शीलगुण से व्यक्ति का व्यवहार निर्देशित होता है और इसके कारण ही व्यक्ति खास तरह का व्यवहार करता है।*

3. अग्रोन्मुख - आगे की ओर
4. अन्तःस्रावी ग्रन्थियां - इन्हें नलिका विहीन ग्रन्थियां कहते हैं, इनसे हार्मोन्स निकलते है जो व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।
5. प्रकार्यात्मक परिवर्तन - जो बदलाव बाहरी एवं आन्तरिक तौर पर व्यक्ति में होते हैं ।
6. संरचनात्मक परिवर्तन - जो बदलाव व्यक्ति के बाहरी तौर पर होते हैं।
7. सृजनात्मकता - यह एक योग्यता है और चिन्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

1.9 अभ्यास प्रश्न:

i) व्यक्ति में शैशवावस्था में विकास प्रारम्भ होता है। (सही/गलत)
ii) किशोरावस्था में बालकों के मित्रों की संख्या सीमित होती है। (सही/गलत)
iii) विकास प्रक्रम जैविक तथा परिवेशीय प्रक्रिया के बीच अन्तःक्रिया है। (सही/गलत)
iv) गर्भकाल में व्यक्ति की शारीरिक विकास की गति सबसे तीव्र होती है। (सही/गलत)
v) बालक का विकास परिपक्वता एवं अधिगम दोनों पर निर्भर होता है। (सही/गलत)
vi) नवजात शिशु दिन-रात में लगभग 10 घंटे सोता है। (सही/गलत)
vii) संज्ञानात्मक क्षमता बालक में जन्मजात पाई जाती है। (सही/गलत)
viii) नैतिकता अनुशासन की देखरेख में विकसित होती है। (सही/गलत)
ix) वृद्धावस्था का प्रारम्भ 55 वर्ष के बाद माना जाता है। (सही/गलत)
x) विकास जीवन पर्यन्त समान रूप से चलता है। (सही/गलत)

अभ्यास प्रश्नों के उत्तरः-

i) गलत
ii) गलत
iii) सही
iv) सही
v) सही
vi) गलत
vii) गलत
viii) सही
ix) गलत
x) सही

1.10 निबंधात्मक प्रश्नः-

i) विकासात्मक मनोविज्ञान के स्वरूप व विस्तार का वर्णन करिये।
ii) विकास सम्प्रत्यय की व्याख्या करिये तथा इसके मुख्य नियमों को समझाइये।
iii) विकास की परिभाषा एवं प्रकृति को समझाइये। विकास एवं वृद्धि में अन्तर स्पष्ट करिये।

1.11 सन्दर्भ पुस्तकें

1. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, जितेन्द्र कुमार उपाध्याय, राजेन्द्र सिंह-विकासात्मक मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।

2. रमेश चन्द्र तिवारी - मानव विकास की प्रक्रिया, संजय प्रकाशन वाराणसी।

3. डा0अनिल कुमार- विकासात्मक मनोविज्ञान, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

4. अरूण कुमार सिंह एवं आशीष कुमार सिंह- व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।

5. सुरेश भटनागर - बाल विकास एवं बाल मनोविज्ञान, रायल बुक डीपो, मेरठ

6. डॉ0 जे0एन0लाल व अनिता श्रीवास्तव- आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान,
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

7.भाई योगेन्द्रजीत- मानव विकास का मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

ईकाई-2 मानव विकास के सिद्धान्त(Theories of Human development)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मनोविश्लेषणात्मक उपागम

2.2.1 सिगंमड फ्रायड

2.2.2 इरिक्सन

2.3 मानवतावादी उपागम

2.3.1 अब्राहम मैसलो

2.3.2 कार्ल रोजर्स

2.4 व्यवहारवादी उपागम

2.4.1 पैवलॉव

2.4.2स्कीनर

2.5 सारांश

2.6 अभ्यास प्रश्न

2.7 शब्दावली

2.8 सन्दर्भ पुस्तके

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य:

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:-

i) *फ्रायड एवं इरिक्सन के मनोविश्लेषण सिद्धान्त को समझ सकेंगे।*

ii) *मैस्लो एवं रोजर्स के मानवतावादी सिद्धान्त को जान सकेंगे।*

iii) *पैवलाव एवं स्कीनर के व्यवहारवाद को समझ सकेंगे।*

2.1 प्रस्तावना:

मानव विकास के बहुत अधिक सिद्धान्त है, जिनका प्रतिपादन अलग-अलग मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया है! इन सिद्धान्तों के द्वारा हमें यह पता चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति क्यों किसी खास तरह से व्यवहार करता है। इस खास व्यवहार के पीछे क्या कारण हो सकते है इन सिद्धान्तों के मुख्य दो तरह के कार्य होते हैं।

1. ***वर्णनात्मक कार्य*** *- विकास की सिद्धान्तों द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों को क्रमबद्ध रूप से संगठित कर दिया जाता है। जिससे उसे आसानी से समझा जा सके।*

2. ***पूर्वकथनात्मक कार्य*** *- विकास के सिद्धान्तों द्वारा भूतकाल के साथ वर्तमान की घटनाओं को समझने में मदद मिलती है बल्कि भविष्य के बारे में भी पूर्व कथन किये जा सकते है।*

मानव विकास के सिद्धान्तों के द्वारा मानव व्यवहार से संबंधित बहुत सारे तथ्यों को संगठित किया जाता है। इसके द्वारा हमें यह आसानी से समझ में आ जाता है कि क्यों लोग कुछ दृष्टिकोणों से तो सामान्य होते है परन्तु अन्य दृष्टिकोणों से भिन्न होते हैं।

इन सिद्धान्तों को व्यक्तित्व के तीन तत्वों के रूप में समझा जा सकता है।

1. *इन सिद्धान्तों द्वारा उन प्रवत्तियों की पूर्व कल्पना की जाती है जो प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य होती है।*
2. *मानव विकास के सभी सिद्धान्त इस बात पर बल डालते है कि व्यक्ति में जो सामान्य प्रवृत्तियॉ एवं विशेषताएं होती है वे विकास की प्रक्रिया द्वारा सभी दिशाओं में प्रवाहित होती है।*

इस इकाई के अन्तर्गत हम मानव विकास के विभिन्न विकास के सिद्धान्तों को समझ सकेंगें। जिसमें मुख्य रूप से मनोविशलेषणात्मक सिद्धान्त, मानवतावादी सिद्धान्त एवं व्यवहारवादी सिद्धान्त है।

2.2 मनोविश्लेषणवात्मक उपागम

2.2.1 सिंगमड फ्रायड

फ्रायड ने मानव विकास सम्बन्धी विचार दिये जिन्हें मनोविश्लेषण सिद्धान्त या मनोलैंगिक विकास का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शैशवकालीन लैंगिक अवस्था के सफल विकास पर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास निर्भर करता है। इसलिए आने वाला व्यक्तित्व इसी शैशवकालीन अवस्था में ही निर्धारित हो जाता है। मनोलैंगिक विकास की पॉच अवस्थायें है जो निम्न पकार है:

1. *मौखिक अवस्था जन्म से 01 वर्ष तक*
2. *गुदा अवस्था 02 वर्ष से 3 वर्ष तक*
3. *लैंगिक अवस्था 04 से 05 वर्ष तक*
4. *सुषुप्ताअवस्था 06 से 12 वर्ष तक*
5. *जननिक अवस्था 12 से 20 वर्ष तक*

*1. **मौखिक अवस्था** - इस अवस्था में गत्यात्मक क्रियाशीलता का प्रधान क्षेत्र मुख है। यह उददीपन का केन्द्र होता है, इसलिये इसे मौखिक अवस्था कहते हैं । इस अवस्था के दो रूप होते हैं।*

*i) **मौखिक चूसना**:- यह अवस्था जन्म से लगभग 06 माह तक रहती है जिसमें बालक को संतुष्टि, मुख, होंठ, जिह्वा द्वारा चूसने या निगलने की क्रिया द्वारा प्राप्त होती है। शिशु स्तनपान के द्वारा शरीर क्रियात्मक और मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि प्राप्त करता है। इस अवस्था में बच्चे में आत्मप्रेम पायी जाती है। इस अवस्था में शिशु में केवल इदम से सम्बन्धित व्यवहार पाये जाते हैं ।*

*ii) **मौखिक काटना**:- यह अवस्था लगभग 6 से 12 माह तक चलती है। इस अवस्था में बच्चा दॉत निकलने के बाद काटता है और उसे कुछ नये अनुभव होते हैं। उसके लिबिडो की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन होता है, जो होठ और जिभ से स्थानान्तरित होकर जबडे तथा दॉतों पर केन्द्रित हो जाती है। काटने के द्वारा उसे सुखद अनुभूति होती है इसलिये बच्चा मसूढों, दॉतों को दबाने तथा काटने द्वारा सन्तुष्टि प्राप्त करता है। दॉत काटने की क्रिया से आक्रामक प्रवृत्तियों का जन्म होता है। इस अवस्था में बच्चे में माता के प्रति प्रेम व घृणा दोनों प्रकार की भावनाओं का विकास हो जाता है।*

मौखिक अवस्था के व्यवहारों का प्रभाव बाद के जीवन में देखा जाता है। मुख से निगलने के आनन्द का विस्थापन ज्ञान और सम्पत्ति के अर्जन के सुख में हो जाता है। काटने और आक्रामकता का विस्थापन व्यंगात्मक, वाद-विवाद व्यवहारों के रूप में होता है। इस अवस्था में होने वाला सामान्य विकास की नींव रखता है, लेकिन

यदि मौखिक अवस्था में शिशु की लैंगिक सन्तुष्टि में बाधा बाली जाय तो आगे चलकर उसमें मनोविदलता, उत्साह, विषाद, तथा कुछ चरित्रिक विकृतियॉ उत्पन्न होने की सम्भावना होती है।

*2. **गुदा अवस्था:-** यह अवस्था 02 से 03 वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में बालक की गुदा उसकी सन्तुष्टि का केन्द्र होती है। बालक मलमूत्र त्याग करने में विशेष रूचि एवं आनन्द का अनुभव करता है। इस अवस्था तक अहम् विकसित होने लगता है। पराअहम् का भी विकास होने लगता है। गुदा प्रक्रियायें दो प्रकार की होती है-*

*i) **गुदा परित्यागात्मक:** यह 18 माह से 3 वर्ष तक की अवस्था होती है। इस अवस्था में सन्तुष्टि का स्थानीकरण गुदा पर हो जाता है तथा मल-मूत्र विसर्जन के द्वारा सुख की अनुभूति होती है। बच्चे के मल-मूत्र त्याग द्धारा आक्रामकता की भावना आती है।*

*ii) **गुदा घारणात्मक:** जब माता-पिता बच्चे को मल-मूत्र निष्कासन के लिए बाध्य करते है तो बच्चा यह समझा है कि इस क्रिया का बहुत महत्व है। इसके फलस्वरूप वह कभी-कभी मल-मूत्र को अधिक देर तक धारण करने की क्रिया प्रारम्भ कर देता है। इससे उसकी आक्रामक प्रवृत्ति बढती है।*

जब माता-पिता बच्चे को शौच प्रशिक्षण देने लगते है, तो इस समय बच्चे को वास्तविकता का ज्ञान होने लगता है। जब माता-पिता द्वारा बच्चे को मल-मूत्र विर्सजन एवं सफाई की शिक्षा दी जाती है और बच्चा जब वह माता-पिता की इच्छापूर्ति नहीं कर पाता है तो उसमें अपराध भावना आने लगती है और वह अचेतन मे चली जाती है। ये अचेतन मन की भावना उसके आने वाले व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। इसके कारण आगे चलकर व्यक्ति में मनस्ताप या पैरानोइमा के लक्षण दिखाई देने लगते है। फ्रायड के अनुसार इस अवस्था में ही व्यक्ति की जीवनशैली निर्धारित हो जाती है।

*3.**लैंगिक अवस्थाः**-यह अवस्था 04 से 05 वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में बच्चे को सुख प्राप्ति जननेन्द्रियों को स्पर्श करने से होती है। बच्चे में प्रदर्शन की प्रवृत्ति की प्रधानता होती है। इस अवस्था में हस्तमैथुन की क्रिया पायी जाती है। अगर बच्चे को जननेदियों के स्पर्श से रोका जाय तो इससे उसकी अपराध भावना दमित हो जाती है जो आगे चलकर अनेक मानसिक विकार जैसे चिन्ता, मनस्ताप, हिस्टीरिया के लक्षण के रूप में दिखाई देने लगते है। लड़के में ओडिपस ग्रन्थि का विकास होने लगता है। इस ग्रन्थि के कारण लड़का अपनी माता की ओर आकर्षित होता है और पिता को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता है। इस ओडिपस ग्रन्थि का समाधान पिता के साथ तादात्मीकरण स्थापित करके, माता को प्यार करके होता है। इस तादात्मीकरण के फलस्वरूप लड़का पिता के मूल्य और नैतिकता को ग्रहण करता है। दूसरी तरफ लड़की अपने पिता को अपना प्रेम पात्र समझती है। इस प्रकार लडकियों में इलेक्टा[a] ग्रन्थि का विकास हो जाता है। लड़की में इस ग्रन्थि का समाधान पिता से प्यार करके और माता के साथ तादात्मीकरण करने से होता है। इस प्रकार उनमें पराअहम् विकसित होता है। इन्हीं ग्रन्थियों के कारण लड़के और लड़कियों दोनो में प्रतिद्विन्द्विता की भावना आ जाती है।*

*4. **सुषुप्ताअवस्था-** यह अवस्था 06 से 12 वर्ष तक होती है। जब बालक को जननेन्द्रियों को स्पर्श करने से रोका जाता है तो वह अपनी लैंगिक इच्छा की अभिव्यक्ति के विभिन्न तरीके अपना लेता है और अपना ध्यान साहित्य, कला, खेलकूद आदि में लगाकर लैंगिक भावना की तरफ से अपना ध्यान खींच लेता है। इस अवस्था में बालक बाहरी वस्तुओं में अधिक रूचि लेने लगता है। शैशवकालीन लैंगिकता दमित होकर शिक्षा के रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था में लैंगिक इच्छायें दमित होकर अचेतन में चली जाती है। ये अचेतन इच्छायें बार-बार चेतना में आने का प्रयास करती है।*

*5. **जननिक अवस्थाः-** यह अवस्था 12 से 20 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में शारीरिक, मानसिक तथा सांवेगिक विकास तीव्र गति से होता है। लड़के -लडकियों को अपने लिंग का ज्ञान हो जाता है तथा उनमें लैंगिक*

रूचि दिखायी देती है। सामाजिक रूप से लड़के लडकियों के अलग-अलग रहने के कारण समलिंगी प्रेम अधिक क्रियाशील हो जाता है। इस अवस्था में विपरीत लिंगी प्रेम कभी हो जाता है। इस प्रकार जननिक अवस्था में लैंगिक आकर्षण, सामाजीकरण, समूह क्रियाशीलता, व्यवसायिक योजना आदि विशेषतायें पायी जाती है।

मनोलैंगिक विकास के सिद्धान्त में प्रथम पॉच वर्ष तथा प्रवृत्तियों के विकास पर मुख्य रूप से ध्यान दिया गया है। विकास की किसी भी अवस्था में यदि व्यक्ति संतुष्टि से वंचित रह जाय या अधिक सन्तुष्टि प्राप्त हो तो दूसरी अवस्था में नहीं जाना चाहता और उस अवस्था विशेष में स्थिरता पायी जाती है। स्थिरता से सम्बन्धित प्रत्यय प्रतिगमन है, जिसमें व्यक्ति पहली अवस्था के अनुरूप व्यवहार करने लगता है।

2.2.2 एरिक एच0 इरिक्सन

एरिक एच0 एरिक्सन का नाम भी मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों में आता है। इन्होने 1963 में मनोसामाजिक विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। एरिक्सन के अनुसार भी पिछली अवस्था के विकास का प्रभाव आगे की अवस्थाओं के विकास पर पड़ता है। उनके अनुसार व्यक्तित्व विकास में मूल प्रवृत्यात्मक एवं जैविक कारकों की अपेक्षा सामाजिक कारक अधिक महत्वपूर्ण है।

मनोसामाजिक सिद्धान्त की प्रमुख मान्यता यह है कि बच्चे के जीवन में समय-समय पर जिस प्रकार की सामाजिक अनुभूतियॉ होती है, वे व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। बच्चे अपने अनुभवों के आधार पर विभिन्न लोगो तथा वस्तुओं के प्रति सकारात्मक या नकारात्मक भावना विकसित करते है, व्यक्तित्व की नींव यही से पड़ने लगती है एवं आगे की अवस्थाओं का विकास उसी के आधार पर होता है। जीवन की सामाजिक अनुभूतियों के आधार पर ही बच्चे का विकास होता है। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में सकारात्मक एवं नकारात्मक विशेषताएं विकसित होती है। एरिक्सन ने अपने सिद्धान्त में मनोसामाजिक विकास की कुल आठ अवस्थाओं का वर्णन किया है और प्रत्येक अवस्था में उत्पन्न और विकसित होने वाली मानसिक विशेषताओं को बताया है। जो उस अवस्था में होने वाली सामाजिक अनुभूतियों के कारण उत्पन्न होती है। इस मानसिक दशाओं को उनके प्रभाव के आधार पर विधेयात्मक या निषेधात्मक माना जाता है। इस अवस्थाओं का वर्णन निम्न प्रकार है-

अवस्थायें	विधेयात्मक दशायें	निषेधात्मक दशायें
1. जन्म से 2 वर्ष तक	विश्वास	अविश्वास
2. 03 से 04 वर्ष तक	स्वायत्तता	सन्देह
3. 05 से 06 वर्ष तक	पहल	अपराधभाव
4. 07 से 12 वर्ष तक	परिश्रम	हीनता
5. 13 से 18 वर्ष पहचान	भूमिका	द्वन्द्व
6. 19 से 35 वर्ष	घनिष्ठता	अलगाव
7. 36 से 55 वर्ष	सृजनात्मकता	निष्क्रियता
8. 55 से ऊपर	सत्यनिष्ठा	नैराश्य

1. **विश्वास- अविश्वास**:- विकास की यह प्रथम अवस्था जन्म से लेकर 02 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बच्चा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माता पिता एवं परिवार के अन्य सदस्यों पर आश्रित होता है। यदि माता-पिता और अन्य सदस्यों से उसे स्नेह और सुरक्षा मिलती है, तो उसमें उन लोगों के प्रति विश्वास की भावना विकसित होती है।

2. **स्वायत्तता-सन्देह**:- विकास की यह दूसरी अवस्था है, जिसकी अवधि 03 से 04 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बच्चा अपने सामाजिक वातावरण को अच्छी तरह सीखने लगता है और उसमें आत्मप्रदर्शन एवं आत्मनियंत्रण की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। अपनी दिनचर्या के अनेक कार्य स्वयं करने के लिए स्वतन्त्रता अनुभव करता है। जब वह किसी व्यवहार को करता है और परिवार के सदस्यों द्वारा उसे प्रोत्साहन मिलता है तो बच्चे में स्वतंत्रता की चेतना विकसित होती है। यदि उसके कार्यो, व्यवहारों की आलोचना की जाय तो बच्चे को अपनी क्षमताओं पर सन्देह होने लगता है और वह हीनता का अनुभव करता है और इसी भाव को लेकर वह आगे की अवस्थाओं में प्रवेश करता है, जिसका प्रभाव उसके व्यवहार एवं समायोजन पर पडता है।

3. **पहल- अपराधभाव**- यह अवधि 5 से 6 वर्ष तक होती है। मनोसामाजिक विकास की तीसरी अवस्था पहल की है। बच्चा अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करना चाहता है। इस अवस्था में बालक का सामाजिक क्षेत्र बढ़ता है। अब उसके लिए माता-पिता के अतिरिक्त दूसरे सदस्य भी महत्वपूर्ण होने लगते है। इसी से उसमें उत्तरदायित्व की भावना तथा कुछ करने की आकांक्षा उत्पन्न होती है। वह जो कार्य करता है यदि उसमें उसे सफलता मिलती है और लोगों की प्रशंसा और समर्थन से उसमें पहल करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। यदि वह असफल हो जाता है व वह स्वयं को दोषी या अपराधी मानने लगता है। इससे अपराध की भावना का प्रभाव उसके व्यवहार पर पड़ता है और उसके विकास में भी बाधा उत्पन्न होती है।

4. **परिश्रम हीनता**ः- एरिक्सन के अनुसार यह अवस्था 7 से 12 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में नये कार्यो को सीखने का अवसर दिया जाता है, इससे बालक को आने वाले जीवन के लिए आवश्यक कार्य सिखाये जाते हैं । इस प्रकार बालक किसी निश्चित उद्देश्य के साथ विशेष क्रियाओं को करके परिश्रमी बनता है और उसमें परिश्रम के प्रति सम्मान की भावना विकसित होती है। उस परिश्रम के द्वारा बालक स्वयं को भविष्य के लिए तैयार करता है। इसमें असफल होने पर हीनता महसूस करता है और इसका प्रभाव उसके विकास पर पड़ता है।

5. **पहचान-भूमिका द्वन्द्व** - यह 13 से 18 वर्ष की किशोरावस्था होती है। इस अवस्था में किशोर यह अनुभव करता है कि उसका अपना अलग व्यक्तित्व है, उसकी अपनी पहचान है। जब किशोर को अपनी भूमिका का निश्चय नहीं हो पाता तो उसके मन में कई भूमिकाओं के बीच द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। वह कोई भी निर्णय तुरन्त नहीं ले पाता है इस अवस्था में उसे सही मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है। वरना उसके विकास में कई प्रकार की बाधाए आने लगती है।

6. **घनिष्ठता- अलगाव**ः- यह अवस्था 19 से 35 वर्ष तक की होती है इसमें व्यक्ति विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करने का प्रयास करता है। विभिन्न उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक होता है और अपने पारिवारिक दायित्वों का निर्वहन करता है। जो व्यक्ति अपने परिवार, सम्बन्धियों के प्रति घनिष्ठता प्रदर्शित नहीं कर पाते, उनके मन में अलगाव की भावना उत्पन्न होने लगती है।

7. **सृजनात्मकता-निष्क्रियता**- .यह मानव जीवन की मध्यावस्था होती है। यह अवस्था 36 से 55 वर्ष तक की होती है। इस अवस्था से गुजरने वाले व्यक्ति से समाज यह अपेक्षा करता है कि वह समाज के लिए अपनी क्षमता के अनुरूप् योगदान दे जैसे -कलाकारों का कला विकास, कवि का रचनात्मक कार्य आदि।

8. **सत्यनिष्ठा -नैराश्य**ः- यह 55 वर्ष से ऊपर की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति उपर की अवस्थाओं में प्राप्त उपलब्धियों एवं असफलताओं की समीक्षा करता है। वह पहले की सभी सात अवस्थाओं की उपलब्धियों के बारे में सोचता है, उनका प्रत्यक्षीकरण करता है। यदि उसे अपने जीवन में अच्छे कार्य किये है तो उसमें संतुष्टि का भाव आता है और यदि गलत कार्य किये है तो वह अवसाद से ग्रस्त होने लगता है।

एरिक्सन का मानना है कि मनोसामाजिक विकास का सिद्धान्त जन्म से वृद्धावस्था तक के विकास का वर्णन करता है। यह सिद्धान्त भी अवस्था सिद्धान्त है। इसमें आयु के अनुरूप नये सामाजिक अनुभवों, मानसिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है। विकास की ये अवस्थायें प्रत्येक बालक की अपनी अलग-अलग रहती है। प्रत्येक अवस्था पूरे मानव विकास और व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती है।

2 .3 मानवतावादी उपागम

2.3.1 अब्राहम मैस्लो

मैस्लो ने अपने मानव सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये स्वस्थ एवं सृजनात्मक व्यक्तियों का अध्ययन किया। मैस्लो के अनुसार व्यक्ति में जन्म से ही शुभ तथा अच्छी प्रवृत्तियाँ पायी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में स्वास्थ्य, विकास तथा मानव क्षमताओं को सिद्ध करने की इच्छा होती है। उसमें नवजात शिशु भी आता है जो अपने को सिद्ध करने का प्रयास करता है।

1. प्रत्येक व्यक्ति का एक अन्तरंग रूप होता है जो अपेक्षाकृत स्वाभाविक, स्थायी तथा अपरिवर्तनशील होता है।
2. अन्तरंग स्वरूप मूल रूप से शुभ होता है।
3. अन्तरंग स्वरूप शुभ है अतः इसे प्रोत्साहित करना हमारा कर्तव्य है।
4. यदि किसी व्यक्ति के अंतरंग स्वरूप को दबाया जाता है तो वह रोगग्रस्त हो जाता है- कभी ज्यादा और कभी कम , कभी तत्काल तो कभी बाद में।

व्यक्ति का अंतरंग स्वरूप जन्मजात रूप से शुभ होता है। जैसे-जैसे व्यक्तित्व में परिपक्वता आती है वह पर्यावरण के साथ अन्तःक्रिया करता है तथा व्यक्ति की सृजनात्मक शक्तियॉ अधिक स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होने लगती है। लेकिन पर्यावरण के प्रभाव के ही कारण व्यक्ति मनोविकृत तथा बुरा भी बनता है। जब व्यक्ति के अन्तरंग स्वरूप को दबाया जाता है अथवा अस्वीकृत किया जाता है तो व्यक्ति विध्वंसात्मक बन जाता है।

मैस्लो ने मानवीय अभिप्रेरणा का सिंद्धान्त को प्रतिपादित किया। मैस्लो ने अपने अभिप्रेरणा सिद्धान्त में दो प्रकार की आवश्यकताओं का उल्लेख किया है-

1. **मौलिक आवश्यकता**- ये जन्मजात होती है।मौलिक आवश्यकताओं में भूख, स्नेह, सुरक्षा, आत्मसम्मान आदि आते हैं। मौलिक आवश्यकताएं कमी के कारण होती है।
2. **उप आवश्यकता**- उप आवश्यकताओं में न्याय, अच्छाई सुन्दरता, क्रम, एकता आदि आते हैं। उप आवश्यकतायें अभिवृद्धि की आवश्यकताएं है। मौलिक आवश्यकताओं की ही तरह उप आवश्यकतायें भी मूल प्रवृत्ति जन्मजात होती है। जब इनकी पूर्ति नहीं होती तो व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है और उसमें अलगाव, पीड़ा, उदासीनता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

मैस्लो की आवश्यकताओं को पदानुक्रम द्वारा प्रदर्शित किया है-

1.जैविक तथा शारीरिक आवश्यकतायें - मैस्लो के अनुसार सबसे पहले आधार के रूप में जैविक एवं शारीरिक आवश्यकताएं होती है। भूख, प्यास तथा काम सम्बन्धी आवश्यकतायें शारीरिक संतुष्टि की मॉग करती है। इस कारण व्यक्ति सबसे पहले भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है।

2. सुरक्षा की आवश्यकतायें - जब व्यक्ति में शारीरिक एवं अन्य भौतिक आवश्यकतायें पूरी हो जाती है वह व्यक्ति अपनी शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा चाहता है। इसमें उसे वस्त्र, मकान आदि की आवश्यकता अनुभव होती है।

3.प्रेम की आवश्यकता - *जब व्यक्ति में जैविक-शारीरिक तथा सुरक्षा की आवश्यकता उत्पन्न होती है और वह पूरी हो जाती है तब वह अपने साथियों, मित्रों एवं सम्बन्धियों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। वह चाहता है कि दूसरे भी उसके प्रति प्रेम व स्नेह का अनुभव करें।*

4 .सम्मान की आवश्यकता - *चौथे स्तर पर व्यक्ति आदर व सम्मान का अनुभव करता है। वह समाज में सम्मान एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति का प्रयास करता है।*

5. आत्म सिद्धि की आवश्यकता - *पॉचवे एवं अन्तिम स्तर पर मैस्लों ने आत्म सिद्धि को स्थान दिया है। इस आवश्यकता की पूर्ति वास्तव में व्यक्ति के जीवन का चरम बिन्दु है। व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मैस्लों ने इस चरम बिन्दु को चरम अनुभव कहा है।*

मैस्लो ने अभिप्रेरणा को आधार मानकर मानव के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है इससे व्यक्तित्व का एक पूरा स्वरूप उभरकर सामने आता है। मैस्लो का व्यक्तित्व सिद्धांत आशावादी, मानवतावादी है। उन्होने व्यक्तित्व के स्वरूप को बताया और व्यक्ति की पूर्णता के लिये आत्मसिद्धि को आवश्यक माना है। जब व्यक्ति को अपने स्वरूप का ज्ञान सच्चे अर्थो में हो जाता है तब उसका व्यक्तित्व आत्मसिद्धि के स्तर पर पहुंच जाता है। उस अवस्था में उसमें मानव-मात्र के प्रति प्रेम और सहानुभूति जैसे गुणें दिखाई देने लगते है।

2.3.2 कार्ल रोजर्सः-

रोजर्स के मानव विकास की व्याख्या मानवतावादी उपागम के अन्तर्गत आती है:

रोजर्स ने प्राणी को दैहिक जीव माना है। जो शारिरिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से कार्य करता है। उनके अनुसार जीव में 2 क्षेत्र होते है:-

i) ***प्रांसगिक क्षेत्र*** - *प्राणी में सभी तरह की अनुभूतियॅा होती है अर्थात् सभी अनुभूतियॅा चेतन एवं अचेतन से बनती है। इस अनुभूतियों द्वारा जो क्षेत्र बनता है उसे प्रासंगिक क्षेत्र कहते हैं ।*

ii) ***आत्मन*** - *प्रत्येक व्यक्ति एक अपना प्रासंगिक क्षेत्र होता है। इसे कोई अन्य व्यक्ति नही जान सकता है। इसे आत्मन कहा जाता है।*

रोजर्स के अनुसार किसी व्यक्ति में आत्मन का अर्थ सम्पूर्ण प्राणी है। आत्मन का विकास शिशुओं की अनुभूतियों के एक भाग के मूर्त रूप को प्राप्त करने के कारण होता है।

जब बच्चे में '' मैं या मुझको का प्रत्यय विकसित होने लगता है और वह धीरे-धीरे अपनी पहचान को समझने लगता है। तब आत्मन का विकास होने लगता है।

रोजर्स ने आत्मन के दो उपतंत्र बताये:

1. ***आत्म सम्प्रत्यय:*** *इसमें व्यक्ति के वो सभी पहलू और अनुभूतियां शामिल होते हैं, जिनसे व्यक्ति अवगत होता है। इन्हें बदला नहीं जा सकता है।*

2. ***आदर्श आत्मन:*** *इसका अर्थ व्यक्ति का स्वयं के बारे में विकसित की गयी छवि से होता है, जिसमें उसके सभी धनात्मक गुण मौजूद रहते है। रोजर्स के अनुसार जीव में मानसिक स्वास्थ्य तथा विकास वंशानुगत होते हैं। जब मानव का विकास होता है तो बचपन से ही बाधायें उत्पन्न होने लगती है। बचपन की प्रेरणायें आगे चलकर युवावस्था में बाधक हो सकती है।*

रोजर्स के अनुसार हर व्यक्ति परिवर्तनशील संसार में रहता है, वह स्वयं उस संसार को अनुभव करता है और उस अनुभव के द्वारा वह उसके प्रति प्रतिक्रिया भी करता है। वह वाह्यय पर्यावरण के साथ-साथ अपने आन्तरिक अनुभवों को भी आधार बनाता है। इसी कारण एक ही पर्यावरण के लिये अलग-अलग व्यक्तियों की प्रतिक्रियायें भी अलग-अलग होती है।

उन्होंने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी अन्तःशक्ति को पहचानने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। इसे उन्होंने आत्मसिद्धि कहा, ये एक ऐसा बल है जो व्यक्ति को अनुवांशिक रूप में प्राप्त होता है, जैसे-जैसे व्यक्ति की अनुभूतियां मजबूत होती जाती है। उसका आत्मन भी मजबूत होता जाता है और इससे व्यक्ति सर्जनात्मक विकास कर पाता है।

जिन व्यक्तियों में आत्मसिद्धि की पर्याप्त मात्रा होती है उनमें लगातार आगे बढ़ने की चाह रहती है, वे किसी भी मोड़ पर रूकना नहीं चाहते।

रोजर्स के अनुसार जीवन में जैसे-जैसे अनुभव आते हैं व्यक्ति उनसे कुछ ना कुछ सीखता है और जो अनुभव उसके आत्म से मेल नहीं खाते उन्हें वह छोड़ देता है। इस प्रकार वह अपने अनुभवों के आधार पर व्यक्तित्व का विकास करता है। व्यक्ति जो भी व्यवहार करता है वह सब उसके आत्म के अनुरूप ही होते हैं। जो अनुभव स्वयं के साथ सम्बन्ध नहीं बना पाते उन्हें व्यक्ति मना कर देता है और धीरे-धीरे वह इस आधार पर समाज एवं व्यक्तियों के साथ सामंजस्य बना लेता है। वह धीरे-धीरे सामाजिक मूल्यों को अपनाता जाता है और स्वयं के अनुभवों का लगातार मूल्यांकन भी करता रहता है।

2.4.1 पैवलॉव:

पैवलाव का नाम व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों में आता है। उन्होंने प्राचीन अनुबन्धन को बताया था। व्यक्ति के मानसिक विकास एवं व्यवहारात्मक परिवर्तनों की व्याख्या के सम्बन्ध में अधिगम प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जन्म के बाद बालक के व्यवहार में धीरे-धीरे सुधार की क्रियायें होती है। मानव विकास के अन्तर्गत बालक के सीखने की प्रक्रिया बहुत महत्वपूर्ण है। जो व्यक्ति जितनी जल्दी कोई क्रिया सीख लेता है वह उतना ही विकसित माना जाता है। अधिगम या सीखना वैसे व्यवहार परिवर्तन को कहा जाता है जो अभ्यास या अनुभव का परिणाम होते है और जिसका उद्देश्य व्यक्ति के समायोजन एवं विकास होता है। अधिगम जीवनभर चलने वाली प्रक्रिया है। बालक जन्म से लेकर मृत्यु तक कुछ न कुछ सीखता रहता है। जिसके कारण उसके अनुभव बढ़ते जाते हैं और उसका विकास होता है। पॉवलाव का नाम अधिगम मनोवैज्ञानिकों के अन्तर्गत लिया जाता है। इनके अनुसार बालक में अधिगम की प्रक्रिया कई रूपों में विकसित होती है जिसे अनुबन्धन सीखना एवं सामाजिक सीखना कहा जाता है।

पैवलाव ने प्राचीन अनुबन्धन के आधार पर प्राणी में होने वाले व्यवहार परिवर्तन को बताया। उनके अनुसार अनुबन्धन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणी के व्यवहार में परिवर्तन होता है। उनके अनुसार जब कोई स्वाभाविक उद्दीपक (भोजन) को प्राणी के सामने उपस्थित किया जाता है तो प्राणी उसके प्रति एक स्वाभाविक अनुक्रिया दिखाता है।

उदाहरण - भोजन देखकर मुँह में लार आना।

जब इस स्वाभाविक उद्दीपक (भोजन) को देने से कुछ सेकेण्ड पहले दूसरा तटस्थ उद्दीपक (घंटी) प्राणी के सामने बार-बार उपस्थित किया जाता है तो कुछ प्रयास कराने के बाद केवल तटस्थ उद्दीपक (घंटी) की आवाज से ही स्वाभाविक अनुक्रिया (लार) आने लगती है।

पैवलॉव ने इस तटस्थ उद्दीपक (घंटी) तथा स्वाभाविक अनुक्रिया (लार) के बीच जो नया सम्बन्ध बना, उसे अनुबंधन अधिगम कहा।

उन्होने स्वाभाविक अर्थात् भोजन को अनानुबन्धित उद्दीपक कहा।

i) *स्वांभिक अनुक्रिया अर्थात् लार स्राव को अनानुबंधित अनुक्रिया कहा।*

i) *तटस्थ उद्दीपक अर्थात् घंटी को अनुबन्धित उद्दीपक कहा।*

उदाहरण: जब एक शिशु अपनी माता का स्तनपान करता है तो वह चूसने का व्यवहार दिखलाता है। अब अगर उसके मुँह में निप्पल वाली बोतल डाल दी जाती है, तब भी वह उसी तरह का व्यवहार दिखलाता है।

इसमें मॉ का स्तन -	*स्वाभाविक उद्दीपक*
स्तन चूसने की क्रिया -	*स्वाभाविक अनुक्रिया*
दूध की बोतल का निप्पल -	*तटस्थ उद्दीपक*
निप्पल से दूध पीने की क्रिया -	*स्वाभाविक उद्दीपक*

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि शिशु के दूध पीने का जो सम्बन्ध मॉ के स्तन के साथ था वही सम्बन्ध अब बोतल के निप्पल के साथ हो गया।

इस प्रकार बालक अपने जीवन की सभी परिस्थितियों में स्वाभाविक उद्दीपकों के स्थान पर तटस्थ उद्दीपकों के प्रति बहुत सारी अनुक्रियायें करता है। जिससे उसके अधिगम (सीखने) की प्रक्रिया का विकास एवं व्यवहार में परिवर्तन एवं सुधान होता रहता है। यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है।

2.4.2 स्कीनर का क्रियाप्रसूत पुनर्बलन सिद्धान्त

स्कीनर एक व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक थे, जिन्होने पुर्नबलन सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके अनुसार बालक में नैतिक विकास अधिगम (सीखने) पर पुनर्बलन के प्रभाव का परिणाम होता है। बालक के नैतिक व्यवहार को प्रेरित करने के लिए उसे पुरस्कार या दण्ड दिया जाना आवश्यक है। जब बालक के सही व्यवहार के लिए उसकी प्रशंसा की जायेगी और गलत व्यवहार के लिए निन्दा की जायेगी तो धीरे-धीरे वह सही व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार बालक अपने व्यवहार के आधार पर जो परिणाम प्राप्त करता है उससे उसमें उचित-अनुचित, सही-गलत आदि में विभेद करना सीख लेता है। इस प्रकार बालक दण्ड के डर से गलत व्यवहार छोड देता है और पुरस्कार की उम्मीद से नैतिक व्यवहार को सीख लेता है। बी0एफ0 स्किनर एक व्यवहारवादी है। उनके सिद्धान्त को क्रियाप्रसूत अनुबन्धन सिद्धान्त कहा जाता है। स्किनर के अनुसार व्यवहार को तभी समझा जा सकता है जब उसे उत्पन्न करने वाले चरों को नियंत्रित करने में सफलता प्राप्त कर ली जाय। उन्होंने उद्दीपक और अनुक्रिया द्वारा जो व्यवहार उत्पन्न होता है उसे दो रूपों में विभाजित किया-

*1.**उद्दीपक प्रसूत व्यवहार- उद्दीपक** प्रसूत व्यवहार उसे कहते हैं जो उत्तेजना के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।*

*2. **क्रिया-प्रसूत व्यवहार**- क्रिया प्रसूत का अर्थ है कि किसी प्रभाव को उत्पन्न करने हेतु वातावरण पर लागू होता है।*

सीखने की स्थिति में प्राणी अपनी समस्या का समाधान क्रिया-प्रसूत व्यवहार द्वारा करता है। प्रभाव को उत्पन्न करने में प्राणी का व्यवहार निमित्त या साधन का कार्य करता है। इसीलिए स्किनर के इस सिद्धान्त को नैमित्तिक अनुबंधन सिद्धांत कहा जाता है।

स्किनर ने व्यवहार की स्थाई विशेषताओं पर ध्यान नहीं दिया बल्कि व्यवहार को सुधारने पर बल दिया। उनका उपागम इस अभिग्रह पर आधारित है कि व्यवहार व्यवस्थित होते है और हमारा उद्देश्य इसे नियंत्रित करना है। उन्होने व्यवहार के नियंत्रण पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार एक व्यक्ति एक समान स्थिति में हमेशा एक जैसा व्यवहार नहीं करता है।

स्किनर का सिद्धांत व्यवहार परिवर्तन, अधिगम से सम्बन्धित है। अनका यह सिद्धान्त मानव विकास के लिए यह अधिक प्रासंगिक है। स्किनर का विश्वास है कि वातावरण के साथ निरन्तर अन्तर्क्रिया से प्राणी में होने वाले व्यवहारिक विकास के आधार पर व्यक्तित्व को समझा जा सकता है।

व्यवहार को प्रबलित करने का अर्थ है ऐसा प्रहस्तन करना जिससे भविष्य में वह व्यवहार घटित होने की सम्भावना बढ़ जाय या परिवर्तित हो जाए। स्किनर के अनुसार क्रिया प्रसूत व्यवहार वह है जो परिवेश में संक्रिया करता है ओर उसे परिवर्तित करता है।

क्रिया प्रसूत अनुबन्धन में पुर्नबलन अनुक्रिया से सम्बद्ध रहता है और अनुक्रिया घटित होने के बाद प्रदान किया जाता है। इस प्रकार अनुक्रिया घटित होने की आवृत्ति परिवर्तित हो जाती है। यदि अनुक्रिया के बाद धनात्मक पुर्नबलन दिया जाता है तो अनुक्रिया की आवृत्ति बढ जाती है और यदि ऋणात्मक पुर्नबलन दिया जाता है तो अनुक्रिया की आवृत्ति घट जाती है। यदि बार-बार अनुक्रिया व्यवहार कराये जाय और पुर्नबलन नही दिया जाय तो वह अनुक्रिया खत्म भी हो सकती है।

स्किनर के इस क्रिया प्रसूत अनुबन्धन सिद्धांत से मानव विकास को समझने में सहायता मिलती है। व्यक्ति में जिन व्यवहारों का विकास हुआ है उन्हें धनात्मक पुर्नबलन दिया गया है और तभी उसे सीखा गया है। प्रबलन सिद्धान्त के आधार पर व्यवहार का पूर्व कथन, नियंत्रण तथा व्याख्या कर पाना संभव हो पाता है। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि पशु तथा मनुष्य क्रिया-प्रसूत अनुबन्धन द्वारा सीखते है। इस सीखने में उसने पुर्नबलन की भूमिका को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया। व्यक्ति के सामाजीकरण, व्यवहार परिमार्जन, व्यवहार के संगठन में यह सिद्धान्त बहुत लाभदायक एवं सफल है।

इस प्रकार स्कीनर एवं पैवलॉव ने बालक को विकास की प्रक्रिया में अधिगम की महत्त्वपूर्ण भूमिका को बताया है।

2.5 सारांश

i) *मानव विकास के बहुत सारे सिद्धान्त है, जिनके द्वारा मानव व्यवहार से सम्बन्धित बहुत सारे तथ्यों को इक्ट्ठा किया जाता है।*

ii) *मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत फ्रायड एवं इरिक्सन के सिद्धान्त आते हैं ।*

iii) *फ्रायड ने 5 मनोलैंगिक अवस्थाओं के आधार पर मानव विकास की व्याख्या की है।*

iv) *इरिक्सन ने व्यक्तित्व विकास में सामाजिक कारकों को महत्वपूर्ण बताया और 8 अवस्थाओं की व्याख्या की है।*

v) *मानवतावादी उपागम के अन्तर्गत अब्राहम मैस्लो एवं कार्ल रोजर्स का नाम आता है।*

vi) *मैस्लों के अनुसार व्यक्ति में जन्म से ही अच्छी और शुभ प्रवृत्तियॉ पायी जाती है।*

vii) *रोजर्स के अनुसार व्यक्ति में स्वयं को पहचानने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। जिसे आत्मसिद्धि कहा।*

viii) *व्यवहारवादी उपागम के अन्तर्गत स्कीनर एवं पैवलॉव के नाम आते हैं ।*

ix) *स्कीनर क्रियाप्रसूत अनुबन्धन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।*

x) *पैवलॉव ने प्राचीन अनुबन्धन को प्रतिपादित किया।*

2.6 अभ्यास प्रश्नः

i) *प्रतिगमन का शाब्दिक अर्थ पीछे लौटना है।* *(सही/गलत)*

ii) *फ्रायड के अनुसार मानव विकास की 6 अवस्थायें है।* *(सही/गलत)*

iii) *फ्रायड ने व्यक्तित्व संचरना की व्याख्या के लिये आकारात्मक एवं गत्यात्मक मॉडल दिये।* *(सही/गलत)*

iv) *रोजर्स के सिद्धान्त को आत्म सिद्धान्त या व्यक्ति केन्द्रित सिद्धान्त कहते हैं । (सही/गलत)*

v) शीलगुण सिद्धान्त मैस्लो द्वारा प्रतिपादित किया गया। (सही/गलत)

vi) मैस्लो के पदानुक्रम मॉडल में सुरक्षा की आवश्यकता दूसरे स्तर की है। (सही/गलत)

vii) पैवलांव ने क्रिया प्रसूत व्यवहार को बताया। (सही/गलत)

अभ्यास प्रश्नों के उत्तरः-

i) सही

ii) गलत

iii) सही

iv) सही

v) गलत

vi) सही

vii) गलत

2.7 शब्दावली:

1. इदम: मन को वह भाग जिसका सम्बन्ध केवल आनन्द से होता है
2. लिबिडो: यौन मूल प्रवृत्ति के ऊर्जाबल को लिबिडो कहा जाता है। इसे लैंगिक क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है।
3. मनोविदलता: एक गम्भीर मानसिक रोग है। जिसमें गलत विश्वास तथा प्रत्यक्षण उत्पन्न होता है।
4. विषाद: यह मानसिक विकृति है। इसमें व्यक्ति में उदासीनता, बैचेनी, नींद की कमी, थकान आदि लक्षण दिखाई देते है।
5. अहम: मन का वह भाग जिसका सम्बन्ध वास्तविकता से होता है।
6. पराहम: मन का वह भाग जो नैतिकता से सम्बन्ध रखता हैं
7. पैरानोइया: ये एक मानसिक रोग है। इसमें रोगी में गलत विश्वास उत्पन्न हो जाता है।
8. हिस्टीरिया: यह एक विकृति है। जिसमें रोगी में दैहिक समस्या रहती है। परन्तु इसका कोई आगिंक आधार नहीं होता है।
9. तादात्मीकरण: यह रक्षा युक्ति है। जिसमें व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की तरह बनकर अपने मानसिक संघर्ष को कम करता है और अहम की रक्षा करता है।
10. प्रतिगमन: इसका अर्थ है, पीछे की ओर लौटना। यह रक्षात्मक प्रकम है जिसे व्यक्ति अपने तनाव को कम करने के लिए प्रयोग करता है।
11. परिमार्जन: सुधार करना ।
12. पुर्नबलन: किसी कार्य को करने के बाद दिया जाना वाला पुरस्कार।

2.8 सन्दर्भ पुस्तकें

1. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, जितेन्द्र कुमार उपाध्याय, राजेन्द्र सिंह-विकासात्मक मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।
2. रमेश चन्द्र तिवारी - मानव विकास की प्रक्रिया, संजय प्रकाशन वाराणसी।
3. डा0अनिल कुमार- विकासात्मक मनोविज्ञान, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

4. *अरूण कुमार सिंह एवं आशीष कुमार सिंह- व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।*
5. *सुरेश भटनागर - बाल विकास एवं बाल मनोविज्ञान, रायल बुक डीपो, मेरठ*
6. *डॉ0 जे0एन0लाल व अनिता श्रीवास्तव. आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान - विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।*
7. *भाई योगेन्द्र जीत - मानव विकास का मनोविज्ञान. विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।*

2.9 निबंधात्मक प्रश्नः

- *i)* *फ्रायड के मानव विकास सिद्धान्त की व्याख्या करें?*
- *ii)* *मानक विकास में चेतन, अर्द्धचेतन व अचेतन की भूमिकाओं पर प्रकाश डालें?*
- *iii)* *एडलर द्वारा प्रतिपादित मानव विकास सिद्धान्त की व्याख्या करिये?*
- *iv)* *रोजर्स के अनुसार पूर्णरूप से सफल व्यक्ति की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये?*
- *v)* *मैस्लो द्वारा प्रस्तावित मानव विकास सिद्धान्त की व्याख्या करिये?*
- *vi)* *मैस्लों के आवश्यकता के पदानुक्रमिक मॉडल की व्याख्या करिये?*
- *vii)* *पैवलांव के व्यवहारवाद की व्याख्या करिये?*
- *viii)* *स्कीनर द्वारा प्रतिपादित मानव विकास सिद्धान्त की व्याख्या करिये।*

इकाई3. प्रसव कालीन विकास: प्रसवकालीन, प्रसूति-पूर्व एवं प्रसव के बाद का विकास (Perinatal development: Prenatal, Antenatal and Postnatal Development)

इकाई की रूप रेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 लक्ष्य एवं उद्देश्य

3.3 गर्भावस्था या प्रसवपूर्व बालक पर प्रभाव डालने वाले कुछ अन्य तत्व

3.4 गर्भस्थ शिशुका विकास

3.5 प्रसवकालीन विकास

3.6 प्रसव पूर्व देखभाल

3.7 गर्भोत्तरकालीन या प्रसवोत्तर कालीन विकास

3.8 सारांश

3.9 मूल्यांकन प्रश्न

3.10 संक्षिप्त प्रश्न

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.1 प्रस्तावना

भारतीय विचार धारा– भारतीय मनीषी प्रारम्भ से ही इस बात का कथन करते आ रहे हैं कि बालक की शिक्षा का प्रारम्भ उस समय से भी पहले हो जाता है जब कि बालक माँ के गर्भ में आता है। महाभारत में अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को तोड़ना अपनी माँ के गर्भ में ही सीखा था। गर्भावस्था में माँ पर जो–जो संस्कार पड़ेंगे, उन सब का प्रभाव बालक पर भी पड़ेगा इसलिए माँ को प्रथम आचार्य कहा गया है। उसका दर्जा पिता और गुरू से भी ऊँचा समझा गया है।

माँ किस प्रकार अपनी सन्तान को संस्कारित करे, इस विषय का सुन्दर ज्ञान यजुर्वेद के छठे अध्याय में कराया गया है। एक मन्त्र में कहा गया है।

'' देवीरापः शुहा वोढ्वं सुपरि विष्टा देवेषु सुपरिविष्टा।।
वयं परिवेष्टारो भूयास्म।।'' यजुर्वेद 6/13

अर्थात् ''जलशीला शुद्ध देवियो! तुम अतिशय सुष्ठुता के साथ हम देवों में सुपरिविष्टा होकर दिव्य सन्तान का निर्वहन करो। हम दिव्य पति तुम्हारे परिवेष्टा हों।''

पिता से सन्तान का आकृतिकरण और माता से सन्तान का प्रकृतिकरण तथा संस्कारकरण होता है। अतः देवी प्रजनन और दिव्य सन्तान की उपलब्धि के लिये यह परमावश्यक है कि गर्भाधान से पूर्व दोनों अपने अपने जीवन को सर्वतः दिव्य सुदिव्य बना लें।

3.2 लक्ष्य एवं उद्देश्य(Aims and Objectives)

- इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप गर्भावस्था या प्रसव पूर्व बालक को प्रभावित करने वाले तत्व के सम्बन्ध में बता सकेंगे।
- गर्भस्थ शिशु का विकास कैसे होता है कितनी अवस्थायें होती हैं जान सकेंगे।

•प्रसव पूर्व देखभाल व प्रसवोत्तर कालीन विकास व देखभाल कैसे होती है जान सकेंगे।

3.2 गर्भावस्था या प्रसवपूर्व बालक पर प्रभाव डालने वाले कुछ अन्य तत्व–

माता के चरित्र तथा स्वभाव आदि का प्रभाव गर्भस्थ बालक पर पड़ सकता है। स्वस्थ और हृस्ट–पुष्ट शिशु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि गर्भवती स्त्री की समुचित देखभाल की जाये क्योंकि सम्पूर्ण गर्भकाल में गर्भस्थ शिशु माँ की क्रिया, प्रतिक्रियाओं, स्वास्थ्य और पोषण द्वारा प्रभावित होता रहता है। अब माँ से सम्बन्धित कुछ अन्य ऐसे तत्वों का वर्णन किया जाएगा जिनका प्रभाव गर्भस्थ बालक के स्वास्थ्य पर पड़ सकता है।

1. डाक्टरी परीक्षण(Medical Examination)

सम्पूर्ण गर्भकालीन अवस्था में नियमित माँ का डाक्टरी परीक्षण आवश्यक है। डॉक्टरी परीक्षण से प्रत्येक समस्या का समाधान प्रारम्भिक अवस्था में ही हो जाता है।

2.माँ का स्वास्थ्य

अभिप्राय मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य से है। यदि माँ का स्वास्थ्य अच्छा होगा तो उत्पन्न होने वाले बालक का स्वास्थ्य भी अच्छा होगा। यदि माँ शारीरिक रूप से रूग्ण है तो इसका प्रभाव बालक के विकास पर पड़ेगा। रोगी माँ को प्रायः उपवास करना पड़ता है। इसका कुप्रभाव यह होता है कि गर्भस्थ शिशु को पौष्टिक तत्व नहीं प्राप्त हो पाते। उसका प्रभाव रस प्रक्रिया (Metabolism)पर पड़ता है और इस कारण गर्भस्थ शिशु इस प्रभाव से बच नहीं पाता ।

माता की

1. पोषणीय कमियों में सुधार
2. टीकाकरण
3. गर्भकालीन टॉक्सीमिया का शीघ्र निदान
4. संक्रमण से बचाव
5. एण्टीबायोटिक औषधियो से बचाव

उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

3. माँ का आहार

गर्भस्थ बालक को विकास के लिये जिन पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है, उन्हें वह माँ की रक्त धारा से प्राप्त करता है। उसे ये पोषक तत्व मिलते रहें उसके लिये यह आवश्यक है कि माँ का आहार सन्तुलित हो जिसमें सभी प्रकार के पोष्टिक तत्व पाए जायँ।

4. औषधियाँ

गर्भ की दशा में माता द्वारा सेवन की जाने वाली औषधियों (drugs) गर्भस्थ शिशु के लिये हानिकारक नहीं होनी चाहिए अतः यह आवश्यकीय है कि डाक्टर के निरीक्षण में ही माँ द्वारा औषधियाँ ली जानी चाहिए।

5. मादक द्रव्य और तम्बाकू (Alcohol and Tobacco)

मादक द्रव्य तथा तम्बाकू शिशु स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, यदि गर्भवती स्त्री गर्भकालीन अवस्था में तम्बाकू या मादक पदार्थो का सेवन करती है तो इसका दुष्प्रभाव शिशु के हृदय तथा स्नायु संस्थान पर पड़ता है। गर्भस्थ शिशु के हृदय की घड़कन बढ़ जाती है। तम्बाकू में भी विषैला पदार्थ निकोटीन होता है जो कि शिशु के सामान्य रक्त चाप को तथा हृदय की धड़कन को प्रभावित करता है रेस्टाक (1979) ने पाया है कि जिन बच्चों के माता व पिता शराब का सेवन करते हैं उनके बच्चों को न तो अच्छी नींद आती है और न उन्हें ठीक से भूख ही लगती है। उनका वजन भी सामान्य से कम होता है।

माता ही नहीं पिता के शराबी होने का दुष्प्रभाव भी शिशु स्वास्थ्य पर पड़ता है । शराब पीने के कारण शराबी पिता के शुक्राणु (sperm) इतने अधिक कमजोर होते हैं कि वे गर्भाधान के समय ही वंशानुक्रम प्रक्रिया द्वारा बच्चे में शारीरिक व मानसिक दुर्बलताए स्थानान्तरित कर देते हैं।

6. माँ की संवेगात्मक अनुभूतियाँ–(Motherly Emotions)

माँ की गर्भकालीन संवेगात्मक अनुभूतियाँ गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करती है। वैज्ञानिको के मतानुसार गर्भवती माँ की कष्टदायक संवेगात्मक अनुभूतियाँ बच्चों के जन्म के बाद अस्थिरता अतिसक्रियता तथा बेचैनी के लक्षण उत्पन्न करती है। ऐसे बच्चे अधिक रोते हैं और भली प्रकार से सो नहीं पाते हैं। इसके विपरीत जिन माताओं को गर्भकाल में सुखद अनुभूतियां होती है उनके बच्चे प्रसन्नचित्त, स्वस्थ तथा बर्हिमुखी होते हैं।

7. माता–पिता की उम्र(Age of Parents)

माता–पिता की उम्र शिशु के विकास को कुछ सीमा तक प्रभावित करती है। हरलॉक के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के लिये स्त्री की आयु कम से कम 21 वर्ष होनी चाहिए क्योंकि इस आयु में यौन अंगों में परिपक्वता आ जाती है जिससे उत्पन्न शिशु शारीरिक रूप से स्वस्थ होते हैं। स्टेकेल (Steckel) ने बुद्धि–परीक्षा करके देखा कि कम उम्र के माता–पिता के बच्चे बुद्धि में कुछ कम तथा अधिक परिपक्व माता–पिता के बच्चे बुद्धि में कुछ अधिक थे। टरमन (Terman) ने भी प्रतिभाशाली बालकों के अध्ययन में यह देखा कि प्रतिभाशाली बालकों के पिता की औसत उम्र उनके जन्म के समय लगभग 34 वर्ष की थी, जबकि सामान्य बुद्धि के बालकों के पिता की औसत उम्र केवल 29 वर्ष की थी। 30 वर्ष से कम पिता और 26 वर्ष से कम माता के बच्चे इससे अधिक आयु के माता–पिता के बच्चों से कम बुद्धिमान पाये गये। स्टेकेल ने यह भी देखा कि लगभग समान आयु के पति–पत्नी के बच्चे उन बच्चों से अधिक बुद्धिमान होते हैं जिनके माता–पिता की उम्रों में अधिक अन्तर होता है।

8. जन्म का महीना(Month of Birth)

हरलॉक ने अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनों की ओर संकेत करते हुए दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वर्ष के भीतर जिस महीने में बच्चा पैदा होता है उस महीने का प्रभाव पड़ता है। ब्लॉसकी (Blausky) 1929 पिन्टनर और मैलर (1937) तथा पिन्टनर और फार्लेयो (1943) ने अपने –अपने अध्ययनो में देखा है कि बसन्त और गर्मी में उत्पन्न होने वाले बच्चों की बुद्धि–लब्धि जाड़े में उत्पन्न बच्चों की बुद्धि–लब्धि से अधिक होती है। ऐसे बालकों की शैक्षणिक उपलब्धियाँ (educational achievements) भी सर्दी के महीनों में उत्पन्न बालकों की अपेक्षा अधिक उत्तम होती है।

3.4 गर्भस्थ शिशु का विकास(Prenatal Development)

सामान्यतः नौ महीने के समय को ''गर्भकालीन अवस्था'' Prenatal stage कहा जाता है।वैज्ञानिकों के मतानुसार यह अवस्था नौ माह दस चन्द्रमास या लगभग 280 दिन की होती है। इस समय में कमी या अधिकता भी हो सकती है।

गर्भधारण के तुरन्त बाद शारीरिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। भिन्न–भिन्न विकास अवस्थाओं में शारीरिक विकास भिन्न–भिन्न गति से चलता है।

गर्भकालीन विकास की विशेशतायें characteristics

निम्न विशेषतायें पायी जाती हैं।

1. यह अवस्था गर्भाधान से लेकर जन्म से पूर्व तक चलती है।
2. इस अवस्था में अन्य अवस्थाओं की तुलना में विकास की गति बहुत तीव्र होती है।
3. इस अवस्था में मुख्यतः शारीरिक विकास ही होता है।

4. समस्त शरीर रचना, भार, आकार तथा आकृतियों का निर्माण इसी अवस्था में होता है।

गर्भकालीन विकास की अवस्थायें– गर्भकालीन अवस्था में विकास की गति अति तीव्र होती है अतः गर्भकालीन अवधि को निम्न तीन उपभागों में विभाजित किया जाता है।

1. डिम्ब अवस्था या बीजावस्था (The Period of Ovuma) (गर्भाधान से दो सप्ताह तक)
2. भ्रूणावस्था (The Period of Embryo) (तीसरे सप्ताह से दूसरे माह के अन्त तक)
3. गर्भस्थ शिशु की अवस्था (The Period of Fetus) (तीसरे माह के प्रारम्भ से जन्म लेने क समय तक)

1. डिम्ब अवस्था (The Period of Ovum)

इस अवस्था को बीजावस्था (Germinal Period) भी कहते हैं। यह अवस्था गर्भाधान से लेकर दो सप्ताह तक चलती है। इस अवस्था में गर्भस्थ जीव अण्डे के आकार का होता है जिसे जाइगोट(Zygote) कहते है। इसका आकार आलपिन के सिर के बराबर होता है और इसके अन्दर निरन्तर कोशिका विभाजन की क्रिया चलती रहती है किन्तु ऊपर से इसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता है। लगभग एक सप्ताह तक यह अण्डाकार जीव (Zygote) गर्भाशय के तरल पदार्थ में तैरता रहता है और अपना पोषण स्वयं ही करता है किन्तु 10 दिन बाद यह गर्भाशय की दीवार से चिपक जाता है। इस क्रिया को आरोपण (Implantation) कहते हैं यह क्रिया गर्भाधान के 10 दिन बाद होती है। आरोपण की क्रिया के बाद से ही गर्भस्थ जीव अपने पोषण के लिये माँ के शरीर पर आश्रित हो जाता है। आरोपण क्रिया में थायराइड और पिट्यूटरी ग्रंथि सहायक होती हैं।

यदि माँ के शरीर में थायराइड और पिट्यूटरी ग्रंथियाँ अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं करती हैं तो आरोपण क्रिया सम्पन्न नहीं हो पाती हैं फलस्वरूप जाइगोट (Zygote)अपना पोषण स्वयं अधिक दिनों तक न कर पाने के कारण मृत हो जाता है जिससे आगे का विकास समाप्त हो जाता है।

आरोपण क्रिया के दौरान जाइगोट की ऊपरी परत फट कर असमान आकार ग्रहण कर लेती है और यही उसे गर्भाशय से चिपकाये रखने का कार्य करती है। यही से गर्भनाल (Placenta)की रचना प्रारम्भ हो जाती है। गर्भनाल से ही डिम्बमाता के रक्त द्वारा अपना पोषण करता है।

2. **भ्रूणावस्था**(The Period of Embryo)

यह गर्भकालीन विकास की दूसरी अवस्था है जो तीसरे सप्ताह से लेकर दूसरे माह के अन्त तक चलती है। गर्भकालीन विकास की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण अवस्था है क्योंकि समस्त शरीर रचना, आकार तथा आकृतियों का निर्माण इसी अवस्था में होता है। इस अवस्था के अन्त तक भ्रूण मानव आकृति प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में विकास की गति बहुत तीव्र होती है जिससे भ्रूण के अन्दर अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। शरीर के प्रमुख अंगों का निर्माण इसी अवस्था में होता है। दूसरे माह के अन्त तक भ्रूण की लम्बाई सवा इंच से दो इंच तक तथा भार लगभग 200 ग्राम हो जाता है। इस अवस्था में भ्रूण का स्वरूप नवजात शिशु के समान नहीं होता है। सिर का आकार अन्य अंगों की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है, कान भी सिर से काफी नीचे प्रतीत होते हैं। नाक में भी केवल एक छिद्र होता है, और माथा काफी चौड़ा दिखायी देता है।

भ्रूणावस्था में जो भी विकास होता है वह तीन परतों से होता है। कोशिका विभाजन की निरन्तरता से डिम्ब तीन परतों में बँट जाता है। प्रथम और 'बाह्य परत' (Ectoderm) कहलाती है। इससे त्वचा, बाल, नाखून, दाँत, त्वचा ग्रंथियाँ तथा नाड़ी मण्डल का निर्माण होता है।

द्वितीय और मध्य पर्त (Mesoderm) कहलाती है। इससे त्वचा के भीतरी भाग और मांसपेशियां का निर्माण होता है। तीसरी और आन्तरिक परत (Endoderm) कहलाती है। इससे

सम्पूर्ण पाचन तन्त्र, फेफड़े, यकृत तथा विभिन्न ग्रंथियों का निर्माण होता है।यह अवस्था सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस अवस्था में गर्भवती महिलाओं को विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।

3. गर्भस्थ शिशु की अवस्था(The Period of Fectus)

तीसरी और आखिरी अवस्था गर्भस्थ शिशु की अवस्था कहलाती है। यह तीसरे माह के प्रारम्भ से जन्म लेने के पूर्व तक होती है। यह अवस्था निर्माण की नहीं विकास की होती है भ्रूणावस्था में जिन –जिन अंगो का निर्माण हो गया होता है, उन्हीं का विकास इस अवस्था में होता है। इस अवस्था के प्रारम्भ होने से अन्त तक प्रत्येक माह गर्भस्थ शिशु के भार तथा लम्बाई में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

3 माह –से प्रत्येक महीने गर्भस्थ शिशु के भार व आकार में वृद्धि होती रहती है। लम्बाई 6 सेमी. तथा भार 3/4 औंस हो जाता है। हाथ पैरों की अंगुलियां बन जाती हैं। गर्भ का पोषण अब गर्भनाल से नाभिरज्जु द्वारा होने लगता है।

4 माह– चौथे माह में शिशु का सिर अधिक बड़ा हो जाता है तथा सिर पर छोटे–छोटे बाल आ जाते हैं। लम्बाई 11–13 सेमी. तथा भार 110 ग्राम, मसूड़ों के अन्दर दांतों का विकास हो जाता है। गर्भवती के पेट का आकार कुछ बड़ा हो जाता है।

5 माह–पाँचवे माह में शिशु की लम्बाई 20 सेमी. तथा भार 300 ग्राम हृदय की धड़कन प्रारम्भ हो जाती है। मांसपेशियाँ सक्रिय हो जाती हैं जिससे शिशु की क्रियाशीलता में वृद्धि हो जाती है। समस्त आन्तरिक अंग भी अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।

6 माह– छठवें माह में त्वचा रोयेदार हो जाती है तथा शिशु शरीर पर तरल पदार्थ एकत्रित होने लगता है। इस अवस्था में सिर का विकास भी तीव्र गति से होता है। सिर छठवें माह के अन्त में सम्पूर्ण शरीर का 1/2 भाग हो जाता है।

7 माह– सातवें माह में शिशु माँ के पेट में स्थित हो जाता है और जन्म लेने तक उसी स्थिति में स्थिर रहता है।

8 माह– आठवें माह में शिशु का वजन 5 पौंड तथा लम्बाई 18 इंच हो जाती है। त्वचा लाल तथा झुर्रीदार हो जाती है। समस्त अस्थियों का निर्माण कार्य पूर्ण हो जाता है किन्तु शरीर पर वसा भी एकत्र होने लगती है। हृदय फेफड़े तथा नाड़ी मण्डल अनुपात में आ जाते हैं और अपने कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।

9 माह – नवें माह में शिशु की त्वचा पर स्वाभाविक रंग आ जाता है। सिर पर घने बाल आ जाते हैं। इस समय से शिशु धीरे–धीरे गर्भाशय में नीचे की ओर खिसकने लगता है और जन्म तक इसी स्थिति में रहता है।

गर्भकालीन अवस्था में संवेगात्मक, व क्रियात्मक विकास

वैज्ञानिकों के मतानुसार गर्भस्थ शिशु में क्रियात्मक क्षमतायें पहले तथा सांवेदनिक क्षमतायें बाद में विकसित होती है। गर्भकालीन अवस्था में तीसरे महीने में ही क्रियाशीलता प्रारम्भ हो जाती है। प्रारम्भिक माह में यह गतिशीलता सिर के भाग में अधिक होती है परन्तु बाद के महीनों में यह धीरे–धीरे हाथ और पैरों में बढ़ जाती है। स्पर्शनी संवेदना सबसे पहले नाक व मुँह में फिर क्रम से शरीर के अन्य भागों में फैलती है। ताप की संवेदनशीलता जन्म से पूर्व विकसित हो जाती है।

3.5 प्रसवकालीन विकास–Perinatal Development

गर्भावस्था के 28वें सप्ताह से प्रसव के पश्चात् चार सप्ताह तक के काल से सम्बन्धित विकास को Perinatal Development कहते हैं ।

भ्रूण की आयु– 28 से 29 सप्ताह (Embryonic age)

- भ्रूण थ्मबजने दृ 38 से 43 सेमी. तक पहुँच जाता है।
- भार – 1.5 किग्रा0 का स्तर
- शरीर की वसा का स्तर शीघ्रता से बढ़ता है।
- स्वास की गति नियमित हो जाती है परन्तु फेफेड़ों का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता ।
- स्वेदना का विकास
- हड्डियाँ पूर्णरूप से विकसित परन्तु कोमल और लचीली
- फीट्स आयरन कैलसियम और फॉस्फोरस को अधिक मात्रा में जमा करने लगता है।

भ्रूण की आयु– 30 से 32 सप्ताह –

- फीट्स की लम्बाई 40 – 48 सेमी.
- फीट्स काभार –2.5 से 3 किग्रा.
- गर्भरोम (Lanugo) खत्म होने शुरू हो जाते हैं
- शरीर की वसा बढ़ जाती है।
- अंगुलियों के नाखून अंगुलियों के शिरों तक पहुँच जाते हैं।
- शिशु जो 36 सप्ताह में जन्म लेता है जीवित रहने की अत्यधिक सम्भावना रहती है परन्तु चिकित्सकीय देखभाल पर।

भ्रूण की आयु– 34 से 38 सप्ताह –

- फीट्स पूर्ण विकसित हो जाता है
- यह 48 से 53 सेमी. लम्बा हो सकता है
- गर्भरोम समाप्त हो जाते हैं सिर्फ कन्धों व बांहों के ऊपर रह जाते हैं।
- अंगुलियों के नाखून अंगुलियों के सिरों से ऊपर पहुँच जाते हैं ।
- छोटे–छोटे Breast इनके male,female दोनों शिशुओं में उपस्थित हो जाते हैं।
- सिर के बाल घने और पूर्ण विकसित हो जाते हैं। प्रसव के बाद भी विकास निरन्तर होता रहता है।

बाल विकास अवस्थाओं व खान–पान के आधार पर नवजात शिशु का विकास (Neonale)

विभिन्न अवस्थाएँ–

शरीर शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार शिशु के विकास के लिये यह बहुत महत्वपूर्ण हैं कि प्रसव कैसे हुआ?

प्रसव की तीन अवस्था

क– माँ को प्रसव वेदना होती है। 12 से 16 घंटे तक रहती है। प्रथम संतान में यह वेदना अधिक समय तक चलती है। माता का निचला भाग नर्म व ढीला हो जाता है ताकि शिशु सरलता से बाहर आ जाय।

ख– बालक के जन्म की अवस्था है। इसमें भी माँ को पीड़ा का अनुभव होता है। प्रथम सन्तान में यह प्रक्रिया 1 से 3 घण्टे तक चल सकती है।

ग– यह प्रसव के बाद की अवस्था है। इसमें गर्भनाल, नाभि से रज्जु तथा जर (Plecenta) को गर्भाशय की दीवार से अलग कर के मां के शरीर के बाहर निकाला जाता है। इस प्रक्रिया में 5 मिनट से लेकर आधा घण्टा तक लग सकता है।

विकृत प्रसव और शिशु विकास

प्रायः 96ः में प्रसव स्वाभाविक रीति से होता है किन्तु जो बालक यन्त्रों की सहायता से या कठिनाई से होते हैं , उनके मस्तिष्क तथा अस्थियों में कई दोष आ जाते हैं। उनका स्वभाव चिड़चिड़ा तथा चिन्तायुक्त होता है। वे दोषयुक्त और उनका क्रियात्मक और बौद्धिक विकास भी अवरूद्ध हो जाता है।

नवीन वातावरण के साथ समायोजन

जन्म के उपरान्त चार सप्ताह की अवधि को नवजात शिशु का स्वरूप माना जा सकता है। प्रसव के बाद नाभिरज्जु कटने के बाद वह एक स्वतन्त्र प्राणी बन जाता है। उसे नवीन वातावरण के साथ समायोजन करना होता है। इसमें लगभग एक सप्ताह लग जाता है और ऐसा करते समय उसका भार कुछ कम हो जाता है। तत्पश्चात वह भार की कमी को पूरा करने लगता है।

नवीन वातावरण से वह निम्न प्रकार से सामन्जस्य करने लगता है।

1. स्वतन्त्र रूप से श्वास लेने की क्रिया
2. उत्सर्जन क्रिया
3. नवीन तापमान के साथ समायोजन
4. मुख द्वारा पोषण प्राप्त करना

नवजात शिशु का शरीर

सिर और पूरे शरीर में 1:4 का अनुपात होता है। पैर बेडौल, बाँहें और टाँगें छोटी होती हैं भार 3 से 3 ½ kgऔर लम्बाई 17 से 21 इंच । नाड़ी की गति एक मिनट में लगभग 140 होती है। बाद में कम होकर 117 रह जाती है।

शिशु का हृदय छोटा होता है अतः सामान्य रक्त चाप बनाए रखने के लिये जल्दी–जल्दी धड़कना पड़ता है। वह 15 से 20 घण्टे तक सोता है।

नवजात शिशु के संवेग

संवेग अविकसित होते हैं । वारसन के मतानुसार नवजात शिशुओं में केवल तीन संवेग पाये जाते हैं। भय, क्रोध तथा स्नेह। शिशु अपनी अविकसित संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को रोकर या माँ के साथ चिपट कर प्रकट करता है।

नवजात शिशु की संवेदनशीलता–गेसल के मतानुसार जन्म के उपरान्त शिशु की ज्ञानेन्द्रियाँ काम करने लगती हैं जो कि निम्न प्रकार से हैं।

1.दृष्टि संवेदना– इरविन तथा रेडफील्ड के परीक्षणों के अनुसार नवजात शिशु अन्धकार में रोने लगते हैं और प्रकाश में शान्त रहते हैं।

2.ध्वनि संवेदना –

3. स्वाद संवेदना–
4. त्वक् संवेदना–
5. घ्राण संवेदना–
6. अन्त सवयव संवेदना

नवजात शिशु की सहज क्रियाएँ–

इनमें निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं।

क– ये तत्काल होती हैं

ख– ये जन्मजात होती है

ग– ये सरल होती है

घ– इनमें एकरूपता पाई जाती है

ड.– ये शरीर के अवयव विशेष में होती है।

सहज क्रियाएँ जैसे–

1. पलक सहज क्रिया (Pupilary)
2. धारण सहज क्रिया – मुट्ठी बन्द कर लेता है (Grasping)
3. चूषण सहज क्रिया (Sucking Reflex)
4. स्नायु सहज क्रिया –Tendon /Reflex
   थपथपाने से मांसपेशियों में संकुचन होता है।
5. पदतालिका सहजक्रिया (Plantar)

पैर के तलवे को सहलाने पर वह अंगुलियों को फेंका देता है

विकास को प्रभावित करने वाले तत्व –

1. गरीबी
2. माता–पिता की उम्र
3. दवाइयों का सेवन
4. शराब
5. धूम्रपान व तम्बाकू
6. बिमारी
7. माँ का आहार व शारीरिक स्वास्थ्य
8. माँ का गर्भकालीन अवसाद
9. प्रदूषण
10. जन्म के समय कम भार

3.6 प्रसव पूर्व देखभाल(Atenatal Care)

किसी भी नारी का मातृत्व तभी सार्थक होता है जब वह शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ बालक को जन्म दे जो बड़ा होकर परिवार व समाज के दायित्वों का निर्वाह सफलतापूर्वक करे। स्वस्थ और हृष्ट–पुष्ट शिशु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि गर्भवती स्त्री की समुचित देखभाल की जाये क्योंकि सम्पूर्ण गर्भकाल में गर्भस्थ शिशु माँ की क्रिया, प्रतिक्रियाओं, स्वास्थ्य और पोषण द्वारा प्रभावित होता रहता है।

गर्भस्थ शिशु का शारीरिक स्वास्थ्य व वृद्धि गर्भवती माँ के पोषण से प्रभावित होता है। शिशु का संवेगात्मक विकास माँ की प्रसन्नता व अप्रसन्नता द्वारा निर्धारित होता है। अतः गर्भवती माँ के लिए ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिये जिसमें वह प्रसन्न रहे। गर्भवती माँ के साथ थोड़ी सी भी लापरवाही माँ तथा गर्भस्थ शिशु दोनों को हानि पहुँचा सकती है। इस प्रकार गर्भावस्था केवल माँ के लिये ही नहीं गर्भस्थ शिशु के लिये भी अति महत्वपूर्ण अवस्था है। इसलिये गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास के लिये भी अति महत्वपूर्ण अवस्था है। इसलिये गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास के लिये गर्भावस्था की प्रारम्भिक अवस्था से ही भली प्रकार देखभाल करनी चाहिए।

श्री जाकिर हुसैन के शब्दों में ''बच्चे को ईष्ट का अंश समझिये। न वह आपकी सम्पत्ति है और न वह आपका खिलौना है, वह तो आपके पास ईश्वर और मनुष्यता की एक धरोहर है।''

गर्भावस्था का समय

गर्भावस्था लगभग 40 सप्ताह अर्थात् 280 दिन तक रहती है। इसकी गणना आखिरी मासिक धर्म तिथि से की जाती है।

प्रसवपूर्व गर्भवती की देखभाल के उद्देश्य–

- भावी माता के स्वास्थ्य की देखभाल करना तथा स्वास्थ्य स्तर को ऊँचा उठाना।
- गर्भावस्था के दौरान उत्पन्न असामान्य स्थितियों का शीघ्र निदान व उपचार करना।
- भावी माता को प्रसूति के लिये शारीरिक मानसिक रूप से तैयार करना।
- गर्भवती की समुचित देखभाल द्वारा मातृ एवं शिशु मृत्यु दर को कम करना।
- गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य का विकास करना।

गर्भवती महिला की देखभाल के लिये आवश्यक बातें–

1. डॉक्टरी परीक्षण
2. आहार
3. वस्त्र
4. व्यायाम
5. व्यक्तिगत स्वच्छता
6. यौन सम्बन्धी
7. मानसिक स्वास्थ्य
8. परिश्रम विश्राम व निद्रा
9. सूर्य का प्रकाश व स्वच्छ वायु
10. स्वास्थ्य सुरक्षा

प्रसव पूर्व शिशु का विकास (Antenatal Development) (Prenatal) गर्भकालीन अवस्था इससे पहले बिन्दुओं पर समझाया जा चुका है।

3.6 गर्भेत्तरकालीन या प्रसवोत्तरकालीन विकास (Postnatal Development)

जन्म के पश्चात् शिशु में होने वाले परिवर्तन प्रसवोत्तर कालीन विकास कहे जाते हैं। स्वस्थ व हृष्ट–पुष्ट शिशु के जन्म के लिए सम्पूर्ण गर्भकालीन अवस्था में माँ की समुचित देखभाल की आवश्यकता होती है किन्तु शिशु को जन्म के समय किसी प्रकार की कठिनाई न हो और प्रसव प्रक्रिया समान्य व आसान हो जिससे शिशु का विकास सामान्य हो इसके लिये भी विशेष तैयारी करनी होती है।

प्रसव के बाद नवजात शिशु की विशेष देखभाल की जाती है। सामान्यतः सामान्य नवजात शिशु का वजन लगभग 6 से 8 पौण्ड तक होता है लम्बाई 18 से 20 इंच होती है। नवजात शिशुओं की लम्बाई तथा भार कई बातों से प्रभावित होता है, जैसे– माता–पिता की लम्बाई तथा भार, माता को पोषण, माँ का स्वास्थ्य आदि।

जन्म के समय शिशु जैविकीय प्राणी के रूप में होता है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः नहीं कर सकता है उसे जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होने के लिए अपने माता–पिता के उचित संरक्षण व देखभाल की आवश्यकता होती है। उचित देखभाल से तात्पर्य केवल बच्चे की शारीरिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति करें अपितु समाजिक संवेगात्मक और मानसिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि भी करे जिससे बच्चे के स्वस्थ सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण हो सके और वह परिवार व समाज के अच्छे नागरिक के रूप में विकसित हो सके।

बाल पोषण की प्रक्रिया निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। किशोरावस्था तक प्रत्येक बालक को अपने माता–पिता तथा वयस्कों के संरक्षण की आवश्यकता होती है। परिवार के सदस्य समय–समय पर बालक का उचित मार्गदर्शन कर उसके वर्तमान जीवन तथा भविष्य निर्माण पर प्रभाव डालते हैं। इस सम्बन्ध में डी.डेविड (D.David) ने कहा है कि ''बालक अभिभावक सम्बन्ध बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण पर प्रभाव डालते हैं।

यह माना जाता है कि अच्छा बालपोषण बालक तथा माता–पिता के मध्य अच्छे अतः सम्बन्ध स्थापित करता है तथा सर्वांगीण विकास में सहायता प्रदान करता है। यदि बालकों का पालन पोषण भली प्रकार से नहीं किया जाता है तो वे विकास के सभी क्षेत्रों में पिछड़ जाते हैं और उनमें समायोजन समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। फलस्वरूप बालक समस्यात्मक और अपराधी बन जाते हैं अतः बालकों के स्वस्थ विकास के लिये यह आवश्यक है कि माता–पिता उनके पालन–पोषण पर उचित ध्यान दें और उन्हें वे सभी साधन व सुविधाये प्रदान करें जो सर्वांगीण विकास में सहायक हो। प्रत्येक परिवार की बाल पोषण विधियाँ संस्कृति, सामाजिक व धार्मिक परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक व आर्थिक स्तरों के अनुसार अलग–अलग होते हैं जिस समाज में हम रहते हैं उसके अपने कुछ आदर्श मान्यतायें व परम्परायें होती हैं। उसी के अनुसार समाज परिवार से बालक के पालन पोषण की अपेक्षा करता है जिससे बालक का स्वस्थ सामाजिक विकास हो और वह समाज के अच्छे सदस्य के रूप में विकसित हो।

बाल पोषण के क्षेत्र(Areas Of Child Rearing)

बाल पोषण का निर्धारण करते समय माता–पिता को चाहिये कि वे अपने आदर्शों को बालकों पर न लादें क्योंकि जबरदस्ती थोपे गये आदर्श बालकों का स्वस्थ विकास नहीं कर सकते हैं। अतः माता–पिता को बालकों की भावनाओं का आदर करना चाहिये तथा उनके स्वभाव व आश्यकताओं को समझकर ही बाल पोषण प्रतिमानों का निर्घारण करना चाहिये।

बाल पोषण के क्षेत्र–Areas of Child Rearing

1.पोषण देना – 1. माँ का दूध या स्तनपान (Breast Feeding)

2. ऊपर का दूध (Top Feeding)(गाय का दूध लाभप्रद होता है)।

माँ के दूध के अत्यधिक लाभ हैं:माँ का दूध अमृत तुल्य होता है स्तनपान से माँ का स्वास्थ्य और बच्चे दोनों का स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

2. स्तनपान छुड़ाना–(Weaning)- छः माह के बाद माँ का दूध शिशु की शारीरिक माँग के,अनुसार पर्याप्त नहीं होता है। अतः धीरे–धीरे स्तनपान छुड़ाकर पूरक आहार द्वारा शिशु को पोषित करना चाहिये।

3. वस्त्र (Clothing)
4. मलमूत्र नियन्त्रण शिक्षा (Toilet Training)
5. दाँत निकलना (Teething)
6. समय–समय पर विभिन्न रोगों से बचाव हेतु विभिन्न प्रतिरक्षण टीके।

शारीरिक विकास

प्राणी के जीवन में शारीरिक विकास का बड़ा महत्व है जो कि गर्भाधान के समय से ही हो जाता है। बच्चे का शारीरिक विकास उसके सभी प्रकार के विकासों जैसे–मानसिक विकास, संवेगात्मक विकास तथा सामाजिक विकास सभी को प्रभावित करता है। विद्वानों का मानना है कि जिस बच्चे का शारीरिक विकास अच्छा होता है उसका मानसिक विकास भी तीव्र गति से होता है। इसी प्रकार शारीरिक विकास पर ही सामाजिक और संवेगात्मक विकास निर्भर रहता है जो बच्चे अस्वस्थ व कमजोर होते हैं वे स्वभाव से चिड़चिड़े हो जाते हैं जिससे उनके समूह के साथी भी कम होते हैं ।

अतः उनका सामाजिक विकास भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। सामान्य शारीरिक विकास के अन्तर्गत मुख्य रूप से शरीर के पाँच क्षेत्रों में विकास होता है जो बालक के व्यवहारों को प्रभावित करता है तथा व्यक्तित्व निर्धारण में सहायता करता है। ये पाँच क्षेत्र हैं:–

1. नाड़ी संस्थान का विकास
2. मॉँस पेशियों का विकास
3. अन्तः स्रावी ग्रन्थियों का विकास
4. शारीरिक संरचना का विकास
5. स्वस्थ शरीर का विकास

विभिन्न अवस्थाओं में शारीरिक विकास

जन्म के समय 7 से 8 पौण्ड व लम्बाई 18 से 20 इंच होती है। जन्म के प्रथम दो वर्षों में शारीरिक विकास की गति अति तीव्र होती है। हरलॉक के अनुसार जन्म के प्रथम चार माह में शिशु सामान्यतः तीन इंच बढ़ता है 8 माह की अवस्था में वह लगभग 25 से 27 इंच लम्बा हो जाता है और एक साल का होते–होते 27 से 39 इंच का हो जाता है। दूसरे वर्ष में 4 इंच और लम्बा होकर 32 इंच लम्बा हो जाता है। चार माह में शिशु का वजन लगभग 5.5 से 7.0 किलोग्राम एवं 1 वर्ष के शिशु का भार जन्म के भार का तिगुना हो जाता है।

पारिवारिक वातावरण

परिवार का महत्व–

1. बालक को एक ऐसा स्थान प्राप्त होता है, जहाँ सांवेगिक रूप से अपने आप को अभिव्यक्त कर सकता है। वह सांवेगिक रूप से अपने आपको अभिव्यक्त कर सकता है। जहाँ उसे स्नेह की प्राप्ति होती है। जहाँ उसे आदर होता है तथा जहाँ उसे सभी प्रकार की सुविधायें प्राप्त होती हैं।
2. परिवार एक सांस्कृतिक संस्था है जो संस्कृति का संरक्षण करती है और उसे बालक बालिकाओं तक पहुँचाती है।

सुरक्षा का भाव

शिशु आयु में छोटा होता है प्रारम्भ के कुछ वर्षों में वह बोल भी नहीं पाता है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता । वह प्रत्येक बात पर दूसरों पर निर्भर करता है। ऐसी अवस्था में उसे सुरक्षा की नितान्त आवश्यकता है। परिवार में जैसे उसके साथ व्यवहार किया जाता है जैसे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है–उसका बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव उस पर पड़ता है और उसके अनुरूप ही उसके ''स्व'' का विकास होता है। सुरक्षा का यह भाव बालक को परिवार में ही मिलता है।

परिवार की रचना का बालक पर प्रभाव–

1. जन्म क्रम
2. परिवार के सदस्यों की संख्या
3. बच्चो का लिंग
4. पारिवारिक समबन्ध

परिवार के भीतर रहते हुए ही शिशु के ''स्व'' का विकास होता है। शिशु के ''स्व'' के विकास में निम्नलिखित तत्व काम करते हैं।

1. शारीरिक अभिवृद्धि तथा विकास – (पहले विस्तार से बताया जा चुका है)।
2. क्रियात्मक विकास
3. भाषा का विकास
4. बुद्धि का विकास
5. संवेगात्मक विकास
6. सामाजिक सांस्कृतिक विकास
7. प्रत्यक्षीकरण या अर्थ का विकास

2. क्रियात्मक विकास

क्रियात्मक विकास से तात्पर्य क्रिया या गति से है जैसे चलना, रेंगना एवं पकड़ना आदि।

प्रथम दो वर्ष– गर्भ का वातावरण गर्म होता है। अन्धकारपूर्ण होता है व शान्त होता है। प्रथम दो वर्षों में शिशु धीरे–धीरे शरीर को नियन्त्रित करने वाली क्रियाओं में निपुणता प्राप्त कर लेता है। वह बैठना सीखने से पूर्व अपना सिर उठाता है, रेंगने से पूर्व बैठता है ओर चलने से पूर्व रेंगता है, प्रत्येक मानव शिशु का यही प्रतिरूप होता है। उदाहरणतः 7 मास का शिशु मटर के दाने जितनी वस्तु पकड़ सकता है और 9) मास की आयु में वह रेंग सकता है। 7 मास की आयु में बैठ सकता है।

भाषा का विकास

जब नवजात शिशु को कोई शारीरिक कष्ट होता है जैसे – भूख लगना, सर्दी लगना, पीड़ा होना, तब वह ध्वनि उच्चारण करने लगता है। प्रारम्भ में इन 'ध्वनि उच्चारणों (Vocalizations) में कोई अन्तर नहीं पाया जाता, परन्तु दूसरे मास से ही इनमें अन्तर आने लगता है। ये ध्वनि–उच्चारण क्रन्दन या रूदन (crying) के रूप में होते हैं। शिशु की रूदन क्रिया से यह तो स्पष्ट नहीं होता है कि उसे क्या कष्ट है, परन्तु इतना अवश्य पता चल जाता है कि वह किसी न किसी असुविधा का अनुभव कर रहा है। जब वह गर्र–गर्र की क्रन्दन ध्वनि करता है तो उसकी प्रसन्नता प्रकट होती है। इस प्रकार दो मास की आयु पूरी होने से पूर्व ही क्रन्दन ध्वनि द्वारा अपनी आवश्यताओं से दूसरों को परिचित कर देता है। जब शिशु लगभग चार मास का होता है तब एक साथ दो या तीन ध्वनियाँ भी उच्चारित करने लगता है। इस समय शिशु की क्रन्दन ध्वनियों में जितनी विविधता पाई जाएगी, उतनी श्रेष्ठता से ही कालान्तर में उसका भाषा–विकास होगा। इस समय शिशु अपनी भावनाओं को प्रकट करने के लिये अपनी ध्वनियों में उतार–चढ़ाव भी ले आता है, परन्तु अभी भी वे अस्पष्ट होती है। हर्ष तथा आश्चर्य की अवस्था में वह ध्वनि में चढ़ाव ले आता है किन्तु निराशा की स्थिति में उसकी ध्वनि में उतार आ जाता है । एक सुयोग्य माँ इन सभी स्थितियों की पहचान भली–भाँति कर सकती है।

6 मास की अवस्था से पूर्व ही शिशु बबलाने (Babbling) की क्रिया करता है। वह बार–बार इन ध्वनियों को उच्चारित करने में आनन्द का अनुभव करता है। बबलाते समय शिशु जिन ध्वनियों को निकालता है, उन्हें लिखित रूप नहीं दिया जा सकता। बबलाने की यह अवस्था भी आवश्यक है, क्योंकि इससे शिशु की ध्वनि–सम्बन्धी माँसपेशियाँ अभ्यस्त होती है और वह अपनी ध्वनियों को स्वयं सुनता है। ध्वनियों का उच्चारण करना और साथ ही साथ इन ध्वनियों को सुनना–शिशु को बाद में इस बात की सहायता देते हैं कि वह उच्चारित शब्दों का सम्बन्ध पदार्थों से जोड़ सकें।

6 मास की आयु की समाप्ति से पहले–पहले ही वे लगभग सभी स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों का उच्चारण कर सकते हैं । वे कभी–कभी इन ध्वनियों को जोड़कर भी निरन्तर उनकों दोहराते रहते हैं। तथा मा–मा–मा –या दा–दा–दा

9वें या 10वें मास में शिशु दूसरों द्वारा उच्चरित ध्वनियों का अनुकरण भी करने लगते हैं। ध्वनियों का सम्बन्ध वातावरण से जैसे 'बी' से बिल्ली 'क' का सम्बन्ध कुत्ते से शिशु की वास्तविक बोलचाल तो दो वर्ष की अवस्था में ही प्रारम्भ होती है परन्तु एक औसत बुद्धि का बालक 12 मास होने

से पूर्व ही एक या दो शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने लगता है। कुमारी शर्ले के अध्ययनानुसार एक औसत शिशु 47 से 66 सप्ताहों के मध्य में पहला शब्द बोलता है।

3.बुद्धि का विकास

फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक पाईगेट का कथन है कि जब शिशु पैदा होता है तभी से उसमें अपने अनुभवों को संगठित करने की शक्ति होती है। परन्तु अनुभवों को संगठित करने की शक्ति सभी शिशुओं में एक जैसी नहीं पाई जाती है। किसी शिशु में यह शक्ति कम होती है, किसी में अधिक। प्रथम दो वर्षों में शिशु का बौद्धिक विकास निम्न प्रकार प्रकट होता है।

प्रथम वर्ष– इन्द्रिय–गोचर गमनात्मक क्रियाएँ (Peraptual Molor Activities)

द्वितीय वर्ष– सरल प्रश्नों की समस्याओं को सुलझाना, उसका भाषा–विकास, अन्य व्यक्तियों की ओर उसकी प्रतिक्रियाएँ ।

5.संवेगात्मक विकास

'संवेग' से तात्पर्य है – हर्ष, भय, क्रोध और स्नेह आदि की वे अनुभूतियाँ, जो व्यक्ति को उत्तेजित कर देती है। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व यह समझा जाता था कि संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध वंशानुक्रम से हैं प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वाटसन ने कुछ नवजात शिशुओ का अध्ययन किया। 1919 ई0 में वाटसन ने कहा कि नवजात शिशु जिन संवेगों की अनुभूति करता है, उनकी संख्या तीन है– भय, क्रोध तथा स्नेह। वाट्सन के मतानुसार दो कारणों से शिशु भयभीत होता है– असुरक्षा का भाव तथा सहसा ऊँची आवाज में शोर होना, उसका कथन था कि व्यक्ति अपने जीवन में जिन'–जिन सांवेगिक प्रतिक्रियाओं की अनुभूति करता है, वे सब इन तीन मूल संवेगों से सम्बन्धित रहती है।

आज वाटसन के उपरोक्त विचार मनोवैज्ञानिकों को मान्य नहीं हैं।

संवेगों के उद्‌गम तथा विकास के सम्बन्ध में आजकल जो दृष्टिकोण प्रचलित है, उसका सुझाव श्रीमती कैथराईन ब्रिसेज ने 1930 में दिया। उन्होंने बताया कि नवजात शिशुओं की संवेगात्मक अनुभूतियों को हम सामान्य उत्तेजना (Generalized Excitement) कह सकते हैं। सामान्य उत्तेजना की इन अनुभूतियों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। बाद में लगभग 3 मास की अवस्था में ये अनुभूतियाँ परिपक्वता तथा प्रशिक्षण के फलस्वरूप दो रूपों में प्रकट होती है। जिन्हें हम आनन्द (Delight) और कष्ट (Distress) की अनुभूतियाँ कह सकते हैं। तनावहीनता, मुस्कराना तथा गुटरगूँ करना 'आनन्द' का परिचायक है। रोना तथा तनाव की अवस्था 'कष्ट' का परिचायक है।

लगभग 6 मास की आयु में कष्ट से क्रोध, घृणा (Disgust) तथा भय का विकास होता है। इसी प्रकार एक वर्ष की आयु तक पहुँचते–पहुँचते आनन्द के द्वारा उल्लास (Elation) तथा स्नेह के संवेग विकसित होते हैं।

6. सामाजिक–सांस्कृतिक विकास

प्रथम दो वर्षों में शिशु उन व्यक्तियों से स्नेह करते हैं, जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उनके स्नेह का प्रथम पात्र माता ही होती है। जो शिशु अपने से स्नेह करने वाले व्यक्ति से एकरूपता स्थापित कर पाते, वे जीवन पर्यन्त और लोगों में हिल–मिल कर एक नहीं हो पाते हैं। दो तीन वर्षों की आयु तक पहुँचते –पहुँचते कई बालकों की प्रतिक्रियाएँ प्रायः निश्चित सी हो जाती है। कुछ शिशुओं में प्रारम्भ से सामाजिकता की भावना अधिक होती है। वे बुलाने पर जल्दी मुस्कराने लगते हैं। तीन सप्ताह के शिशु मानव–ध्वनि पर ध्यान देने लगते हैं। तीन –चार मास का शिशु मनुष्य की ध्वनि सुन कर अपनी गर्दन घुमा लेता है। पाँच सप्ताह का शिशु हँसने पर मुस्करा देता है। आठ सप्ताह का शिशु माँ के प्रति विशेष प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता है। नौ–दस सप्ताह का शिशु किसी अपरिचित यक्ति

को देखकर रोने लगता है। चार मास का बालक लोगों के तमाशे में जाना चाहता है। छः माह में शिशु अन्य शिशुओं व वयस्कों दोनों में रूचि लेने लगता है। एक वर्ष पूरा होने से पहले ही शिशु में अपरिचित व्यक्तियों के प्रति भय तथा उदासीनता कम हो जाती हैं।

7. प्रत्यक्षीकरण अर्थ का विकास

बालक के प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया जन्म के जल्दी बाद ही प्रारम्भ हो जाती है। कुछ दिन माँ का दूध पीने पर वह माँ के दूध को समझ जाता है। दो सप्ताह के पश्चात् शिशु ठण्डे और गर्म दूध में अन्तर समझने लगता है। तीन सप्ताह का शिशु खट्टी और मीठी वस्तुओं का अन्तर पहचानता है। तीन मास का बालक रंगों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है। एक वर्ष का बालक नीले, लाल, हरे और पीले रंग में भेद कर सकता है। उसे आम तौर पर लाल रंग अधिक अच्छा लगता है।

3.7 सारांश

बालक की शिक्षा का प्रारम्भ बालक के माता के गर्भ में आने पर व उससे भी पूर्व शुरू हो जाता है। महाभारत में अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को तोड़ना अपनी माँ के गर्भ से ही सीखा था। गर्भावस्था में कई तत्व बालक को प्रभावित करते हैं माँ किस वातावरण में रहती है माता का स्वभाव, स्वास्थ माता का पोषण आदि सभी तत्व शिशु के विकास को प्रभावित करते हैं।

गर्भकालीन अवधि में शिशु का विकास तीन अवस्थाओं में होता है:

1. डिम्ब अवस्था 2. भ्रूणावस्था 3. गर्भस्थ शिशु (fetus) की अवस्था

शरीर शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार प्रसव की भी तीन अस्वस्था होती हैं व शिशु का विकास के लिये यह बहुत महत्वपूर्ण है कि प्रसव कैसे हुआ है। प्रथम अवस्था में माँ को प्रसव वेदना होती है। द्वितीय अवस्था में यह पीड़ा अत्यधिक होती है व अन्तिम अवस्था में शिशु जन्म के बाद गर्भनाल, नाभि से व Placenta के गर्भाशय की दीवार से अलग कर माँ के शरीर से बाहर किया जाता है।

नवजात शिशु का शरीर सिर व पूरे शरीर 1:4 के अनुपात में होता है। नवजात शिशु में संवेदनाओं या ज्ञानेन्द्रित जन्म के उपरान्त काम करने लगती है। व केवल तीन संवेग विकसित होते हैं। भय, क्रोध तथा स्नेह। प्रसव व पश्चात शिशु का विकास शिशु के पोषण व माता दोनों के खान पान पर निर्भर करता है। शिशु का शारीरिक विकास क्रियात्मक विकास भाषा का विकास, बुद्धि का विकास, संवेगात्मक विकास सामाजिक सांसकृतिक विकास सभी एक निश्चित समय के साथ होते चले जाते हैं इन सभी विकासों पर वातावरण एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करत है।

3.8 मूल्यांकन प्रश्न

प्रश्न 1. गर्भवती माता के स्वास्थ्य के लिये किन–किन बातों पर ध्यान देना आवष्यक है।

प्रश्न 2. गर्भकालीन विकास की अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन् कीजिये।

प्रश्न 3. नवजात शिशु की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

3.9 संक्षिप्त प्रश्न

1.प्रसव पूर्व गर्भवती की देखभाल के दो उद्देश्य लिखिये

2.गर्भकालीन डॉक्टरी परीक्षण आवश्यक है।

अ– गर्भकालीन स्वास्थ्य सुधार के लिये

ब– शिशु जन्म के लिये

स– संक्रमण रोकने के लिये

द– उपर्युक्त में कोई नहीं

3.किस विकास की गति गर्भकालीन अवस्था में तीव्र होती है।

अ– शारीरिक

ब– मानसिक

स– सामाजिक

द– संवेगात्मक

संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

1.नवजात शिशु और सहज क्रिया 2. गर्भस्थ बालक पर माँ का प्रभाव

उत्तर – 2. (अ) 3 (अ)

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ –

1. सावित्री देवी वर्मा '' आपका मुन्ना'' – आत्मा राम, दिल्ली
2. भाई योगेन्द्र : बाल–मनोविज्ञान'' विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
3. विद्यानन्द विदेहः ''वेद व्याख्या ग्रन्थ (भाग–6)– वेद संस्थान , अजमेर
4. हरलॉकः ''चाईल्ड डिवलपमैण्डः: कागाकुश, टोकयू।
5. महेन्द्रप्रसाद जायसवालः ''विकासात्मक मनोविज्ञान पुस्तक सदन, दिल्ली''
6. किलफ्फर्ड मार्गनः '' इन्ट्रोडक्सन टू साईकॉलॉजी'' मैकग्रो, न्यूयॉर्क ।
7. लालाजी रामशुक्ल '' बाल मनोविकास'' – नन्द किशोर , वाराणसी ।
8. मिलर्डः ''चाईल्ड ग्रोथ एण्उ डिवॅलपमैण्ट'' – हीथ, बोस्टन
9. वी.एलिजाबेथः ''चाईल्ड डिवॅलपमैण्ट'' मैकग्रो,–न्यूयार्क।
10. गुड इनफ तथा टाइलरः ''डिवॅलपमैन्टल साई कॉलॉजी'' एपिलटन, न्यूयॉर्क।
11. डॉ नीता अग्रवाल व डॉ0 वीन निगमः ''मातृकला एवं बालविकास'' अग्रवाल पब्लिकशन्स, आगरा–2
12. Wilipedia- 16 "Schacter, Daniel (2009) '11' Psychology Second Edition, United State of America. Worth Publishers, ISBN 13: 978-1-4292- 3719-2.

इकाई 4. शारीरिक, क्रियात्मक एवं मनोसामाजिक विकास (Physical, Motor and Psycho-Social Development)

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था
4.3 शारीरिक विकास
4.3.1 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में शारीरिक विकास
4.3.2 शारीरिक विकास का महत्व
4.4 क्रियात्मक विकास
4.4.1 क्रियात्मक विकास का अर्थ
4.4.2 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में क्रियात्मक विकास का महत्त्व
4.4.3 क्रियात्मक योग्यताओं के प्रकार
4.5 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में क्रियात्मक विकास
4.5.1 क्रियात्मक कौशलों का विकास
4.6 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में मनोसामाजिक विकास
4.7 सारांश
4.8 टिप्पणी प्रश्न
4.9 बोध प्रश्न
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न
4.11 सन्दर्भ पुस्तकें।

4.0 प्रस्तावना :

बालक का शारीरिक विकास उसके सामान्य व्यवहार को प्रभावित करता है। शरीर एवं मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है। शारीरिक विकास के रूप में बालक के शरीर में होने वाली वृद्धि तथा शारीरिक संरचना का अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत शरीर की ऊँचाई, भार, अंगों का अनुपात, कंकालीय विकास, मांसपेशियों का विकास, तंत्रिका तंत्र और आन्तरिक अंगों का अध्ययन किया जाता है। बालक का शारीरिक विकास गर्भ धारण के दूसरे सप्ताह (14वें दिन) से प्रारम्भ हो जाता है और विकास की अनेक अवस्थाओं में भिन्न–भिन्न गति से लगातार चलता रहता है। करीब 20 वर्ष की आयु तक शारीरिक विकास पूर्ण हो जाता है। इसके बाद केवल भार में वृद्धि होती है। बालक के विकास के क्रम में शारीरिक विकास की चार अवस्थायें होती है। प्रथम 2 अवस्थाओं अर्थात गर्भकालीन एवं शैशवावस्था में विकास की गति तीव्र होती है। इसके बाद किशोरावस्था एवं युवास्था में इसकी गति मन्द पड़ जाती है।

जन्म के बाद बालक को शारीरिक विकास के साथ–साथ सामाजिक, भौतिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के साथ समायोजन की आवश्यकता होती है। इसके लिए उसका गतिक एवं कौशल विकास महत्वपूर्ण होता है। बालक में गतिक कौशल का विकास मुख्य

रूप से 3 वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक पूरा हो जाता है। गतिक विकास की प्रक्रिया 2 रूपों में होती है– 1.हस्त कौशल का विकास 2. पैरों के कौशल का विकास।

गतिक क्षमताओं का विकास परिपक्वता एवं अधिगम अभ्यास का परिणाम होता है। पूर्व एवं उत्तर बाल्यवस्था में बालक के गतिक विकास का महत्व बहुत अधिक होता है। जितनी तीव्र गति से बालक का गतिक विकास पूरा होता है, उतनी ही जल्दी वह वातावरण के साथ समायोजन स्थापित कर लेता है। गतिक क्षमता का विकास जन्म के बाद ही प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु गतिक कौशल का प्रारम्भ 3 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होता है। बालक के शारीरिक एवं गतिक विकास के साथ–साथ इस अध्याय में आप मनोसामाजिक विकास का भी अध्ययन कर सकेंगे। जन्म से ही बालक की आवश्यकतायें एवं स्वभाव इस प्रकार का होता है कि बिना समाज के उसकी पूर्ति संभव नहीं है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के कारण अपने समाज की अपेक्षाओं, आकांक्षाओं, परम्पराओं, प्रथाओं व मूल्यों को अर्जित करने का प्रयत्न करता है और धीरे–धीरे अपने व्यवहार को सुधारने का प्रयास करता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के साथ ही बालक में मानसिक विशेषतायें भी दिखाई देती है जो उसमें मनोसामाजिक विकास का प्रतिफल होता है।

4.1 उद्देश्यः

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप –

1. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावास्था को समझ सकेंगे।
2. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावास्था में बालक के शारीरिक विकास को समझ सकेंगे।
3. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक के क्रियात्मक या गतिक विकास को समझ सकेंगे।
4. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक के मनो–सामाजिक विकास को जान सकेंगे।

4.2 पूर्व बाल्यावस्था एवं उत्तर–बाल्यावस्था

पूर्व बाल्यावस्था का प्रसार क्षेत्र दो वर्ष से 6 वर्ष की आयु तक हो सकता है। इसके एक छोर पर बचपनावस्था का अन्त होता है तथा दूसरे छोर पर पाठशाला में प्रवेश का समय होता है। इसलिए इस अवस्था को'' स्कूलपूर्व अवस्था'' भी कहा जाता है। पूर्व बाल्यावस्था 'टोली पूर्व आयु' होती है। यह वह समय है जिसमें बालक ऐसे सामाजिक व्यवहारों को सीखता है जिसनके द्वारा वह समाज में समायोजन करने के लिए तैयार होता है। इस अवस्था के आने पर बालक में व्यवहार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ होती है, जिनसे माता–पिता को जूझना पड़ता है। छोटा बालक जिद्दी, अड़नेवाला, आज्ञा न माननेवाला, एवं नकारात्मक वृत्ति वाला, और प्रतिरोध करने वाला होता है।

उत्तर बाल्यावस्था छः वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर यौवनारम्भ तक अर्थात् ग्यारह व बारह वर्ष के मध्य तक रहती है। इस अवस्था को कई नामों से जाना जाता है। शिक्षकों के अनुसार, यह अवस्था ''प्रारम्भिक स्कूल'' की अवस्था है। माता–पिता के अनुसार, यह 'चातुर्य' की अवस्था है इसे ''गन्दी'' आयु भी कहा जाता है क्योंकि बालक गन्दा बेढंगा,

लापरवाह दिखयी पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों के लिए यह गिरोह या टोली की आयु होती है। इस अवस्था में बालिकायें अपनी टोली बनाकर रहती है और बालक मित्रों की टोली में रहते है।

पूरी बाल्यावस्था 3 से 12 वर्ष की अवस्था मानी जाती है जिसमें पूर्व–बाल्यावस्था को 3 से 6 वर्षएवं उत्तर–बाल्यावस्था को 7–12 वर्ष में विभक्त किया गया है।

4.3 शारीरिक विकास

शारीरिक विकास का अर्थ :– शारीरिक विकास का अर्थ प्राणी में गर्भाधान से लेकर परिपक्वता स्तर तक विभिन्न अंगों में होने वाली वृद्धि से है।

परिभाषायें:

1. –क्रो एवं क्रो व्यक्ति का शारीरिक विकास प्रकृति एवं पोषण दोनों द्वारा निर्धारित होता है।

.2.–मेरेडीथ गर्भावस्था के प्रारम्भ एवं वृद्धावस्था की समाप्ति के बीच घटने वाली शारीरिक एवं दैहिक परिवर्तनों की सम्पूर्ण श्रंखला को शारीरिक वृद्धि कहा जाता है। शारीरिक विकास में मुख्यरूप से शरीर की ऊँचाई, शरीर के भार, मांसपेशियों, हड्डियों, स्नायुमण्डल, आन्तरिक अंगों के विकास आदि का अध्ययन किया जाता है।

बालक के विकास की चार अवस्थाएँ होती है। दो अवस्थाओं में विकास तेजी से होता है तथा दो में धीमी गति से। जन्म से दो वर्ष तक विकास तेजी से होता है। फिर किशोरावस्था के पूर्व तक विकास की गति धीमी हो जाती है। किशोरावस्था में विकास तेजी से होता है। परन्तु किशोरावस्था के बाद यह विकास फिर मन्द गति से चलता है।

शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों का विकास सभी दिशाओं में एक जैसा तथा एक ही समय में नहीं होता है। शरीर का प्रत्येक अंग अपने विशेष नियमानुसार विकसित होता है। कोई अंग जब किसी समय तेजी से बढ़ता है तब दूसरे अंग उसी समय मन्द गति से बढ़ते है। परन्तु सभी अंगों का विकास लगातार जारी रहता है। बचपनावस्था में शारीरिक विकास बहुत तेजी से होता है परन्तु पूर्व बाल्यावस्था में इसमें कमी आती है।

बाल्यावस्था में बालक के व्यवहार पर शारीरिक विकास का प्रभाव दो प्रकार का हो सकता है–

क.प्रत्यक्ष प्रभाव– शारीरिक विकास यह निश्चित करता है कि एक बच्चा एक निश्चित आयु में क्या कर सकता है और क्या नही, उदाहरण के लिए, यदि एक आठ वर्ष के बालक का शारीरिक विकास अच्छा है, तो वह खेल में अपने साथियों की बराबरी कर सकता है। खेल में उनके साथ प्रतिस्पर्धा कर सकता है। अपने दोस्तों के साथ खेल तमें वह बालक अपने आपको थका हुआ, बीमार या अच्छा कैसा अनुभव करता है? उसकी ये सब भावनाऐं खेल में उसके व्यवहार को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। बालक की उन भावनाओं का सम्बन्ध उसके शारीरिक विकास से है।

ख.अप्रत्यक्ष प्रभाव– इस प्रकार से शारीरिक विकास का प्रभाव पहले बालके के स्वयं के प्रति अथवा दूसरों के प्रति अभिवृत्तियों पर पड़ता है, फिर ये अभिवृत्तियां उस बालक के व्यवहार को प्रभावित करती है, उदाहरण के लिए, एक अधिक मोटा बालक जो अक्सर व्यक्तिगत अयोग्यता का अुभव करता है, उसे यह भी आभास रहता है कि वह पतले और चुस्त लोगो की बराबरी नहीं रक सकता है। इस बच्चे को यदि अन्य बच्चे अपने साथ खिलाने को इसलिए मना कर दें कि तू तो बहुत धीमा खेलता है, इस अवस्था में इस बालक में हीनता की भावनाऐं उत्पन्न हो जायेंगी। इस बालक के शारीरिक आकार के सम्बन्ध में दूसरे व्यक्ति किस प्रकार की विचारधारा रखते है, इस बाल का भी इस बालक के व्यक्तित्व और व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है।

4.3.1 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में शारीरिक विकास

1.शरीर का आकार– 4 वर्ष की आयु में बालक का कद जन्म के समय से दुगना हो जाता है। 12 वर्ष की आयु में उसका कद जन्म के समय से 2.5 गुना हो सकता है। जन्म के समय लड़के–लडकियों की अपेक्षा कुछ लम्बे होते हैं 10 वर्ष की आयु तक के लडके कद में लडकियों से लम्बे ही रहते हैंपरन्तु अगले तीन–चार वर्षों में लडकियॉ लडकों से आगे बढ़ जाती है।

2.वजन– दूसरे वर्ष में बालक का वजन प्रति माह आधा पाउण्ड के लगभग बढता है। पाँचवे वर्ष के अन्त में औसत बालक का वजन 38 से 43 पाउण्ड हो जाता है। और बारह वर्ष के अन्त में उसका भार 80 से 95 पाउण्ड हो जाता है।

जन्म के बाद पहले नौ दस वर्षों में लडको की अपेक्षा लडकियां कम वजन की होती है। उत्तर बाल्यावस्था में लडकों की अपेक्षा लडकियों में यौवन का आगमन जल्दी होता है। इसलिए लडको की अपेक्षा इनका वजन अधिक होता है।

3.शारीरिक अनुपात– इस अवस्था में बचपन में शरीर का आकार बदल जाता है और पूर्व बाल्यावस्था में बालक के शरीर के भिन्न–भिन्न भाग भिन्न भिन्न अनुपात में बढते हैं। शरीर के आनुपातिक परिवर्तन भी एक निश्चित दिशा में होते हैं पहले सिर के अनुपात में परिवर्तन होता है और बाद में धड़ के। बाहुओं और टॉगों का आनुपातिक विकास सबसे बाद में होता है।

उदाहरण– बालक अपनी कुल लम्बाई का 65 प्रतिशत भाग 5.5 वर्ष की आयु में ही प्राप्त कर लेता है। जबकि इस आयु में यह अपने कुल वजन का केवल 33 प्रतिशत भाग ही प्राप्त कर पाता है। 5.5 वर्ष की आयु के बाद उसके बाहुओं में 50 प्रतिशत की वृद्धि होती है, परन्तु सिर का घेर लगभग 7 प्रतिशत ही बढ़ता है।

4. सिर का अनुपातिक विकास– प्रथम दो वर्षों में सिर का विकास बड़ी तेजी से बढ़ता है। इसके उपरान्त विकास की गति कम हो जाती है। 5 वर्ष की आयु में बालक का सिर 90 प्रतिशत विकसित हो चुकता है। 10 वर्ष की आयु में विकास बढ़कर 95 प्रतिशत ही जाता है। 15 या 16 वर्ष की आयु में सिर का पूरा विकास हो सकता है।

जन्म के समय खोपड़ी और चेहरे का अनुपात	6:1
पाँच वर्ष की आयु में	5:1
परिपक्वावस्था में	25:1

सिर के विकास में चौडाई की अपेक्षा लम्बाई की वृद्धि अधिक होती है। 13 वर्ष की अवस्था तक सिर की चौड़ाई तो विकसित हो जाती है परन्तु लम्बाई 17–18 वर्ष तक बढ़ती रहती है। लड़कों के सिर लड़कियों की अपेक्षा कुछ अधिक बडे होते हैं परन्तु दोनों के विकास क्रम में कोई अन्तर नहीं होता है।

5. स्कन्ध का विकास – जन्म के समय बालक का ऊपरी भाग ही अधिक विकसित होता है। बालक के स्कन्ध का विकास धीरे–धीरे होता है। जन्म के समय छाती कुछ गोलाकार–सी होती है, गर्दन छोटी होती है और कन्धे ऊँचे होते हैं 10 वर्ष की अवस्था तक पहुॅचते–पहुॅचते बालक की छाती चौडी हो जाती है तथा गर्दन कुछ लम्बी हो जाती है। गर्दन लम्बी हो जाने के कारण कन्धे उठे–उठे नहीं रहते हैं पूर्व बाल्यावस्था में बालक के नितम्ब छोटे रहते हैं परन्तु धीरे–धीरे वे चौडे होते जाते है। पूर्व बाल्यावास्था में लड़के–लडकियों के नितम्ब एक जैसे रहते है परन्तु उत्तर बाल्यावस्था की सामाप्ति तक लडकियॉ इस क्षेत्र में लडकों से आगे बढ़ जाती है।

6. हाथों और पैरों का विकास'–पैरों का विकास पूर्व बाल्यावस्था में धीरे–धीरे होता है। परन्तु उत्तर बाल्यावस्था में इनके विकास की गति बढ़ जाती है। प्रत्येक अवस्था में लड़कों के पैर लड़कियों के पैरों की अपेक्षा बड़े होते हैं, परन्तु उनके पैरों का पूर्ण विकास लड़कियों के पैरों की अपेक्षा देर से होता है। 8 वर्ष की आयु में हाथों में 50 प्रतिशत की बढोत्तरी होती है। 8 से 16 वर्ष की आयु में बाहुओं का विकास कम हो जाता है। पहले दो वर्षों में टॉगों की लम्बाई में 40 प्रतिशत की वृद्धि होती है। 8 वर्ष क अवस्था में लम्बाई 50 प्रतिशत बढ़ जाती है।

7.**दाँत**– प्रत्येक बालक के दो प्रकार के दॉत होते है 1. दूध के दाँत तथा 2. स्थायी दाँत

1. दूध के दाँतों की संख्या 20 होती है और स्थायी दॉतों की संख्या 32।
2. स्थायी दाँत दूध के दॉतों की अपेक्षा बड़े होते हैं।
3. स्थायी दाँत गुण में अधिक अच्छे होते है इसलिए ये सुदृढ होते है और देर तक रहते हैं

स्थायी दाँतों के विकास का क्रम

औसत आयु	स्थायी दाँतों की संख्या

6 वर्ष	1 या 2
8 वर्ष	10 या 11
10 वर्ष	14 या 16
12 वर्ष	24 या 25
13 वर्ष	27 या 28

8.मस्तिष्क – पूर्व बाल्यावस्था के प्रारम्भ में मस्तिष्क का विकास बडी तेजी से होता है। 8 वर्ष की आयु तक यह विकास बहुत कम हो जाता है। इसके बाद 16 वर्ष की आयु तक मस्तिष्क के विकास की गति फिर कुछ बढ़ जाती है। मस्तिष्क का विकास उत्तर बाल्यावस्था में तो बडी तेजी से होता है परन्तु बाद में कम हो जाता है।

9.हृदय तथा परिवाही प्रणाली– पूर्व बाल्यावस्था में हृदय छोटा होता है और नसें तथा नाड़ियां बडी होती है। परन्तु उत्तर बाल्यावस्था में नसे तथा नाडियॉ बढ़ जाती है और हृदय छोटा रह जाता है। हृदय का वजन निम्नलिखित रूप से बढ़ता है।

आयु	हृदय का वजन
6 वर्ष	जन्म से 4–5 गुना
12 वर्ष	जन्म से 7 गुना

10.मांसपेशियां और चर्बी– पूर्व बाल्यावस्था में लड़कियों एवं लड़कों की मांसपेशियों का विकास उनकी शारीरिक क्रियाओं एवं वजन वृद्धि पर निर्भर करता है। उत्तर बाल्यावस्था में लड़कियों की मांस पेशियों का विकास तेजी से होता है। इसी अवस्था में बालकों के शारीरिक बनावट के अनुसार उनमे चर्बी या मांसपेशियां विकसिक होती है जैसे–जैसे उनके वजन में वृद्धि होती है वैसे वैसे उनकी मांस पेशियों के वजन की वृद्धि निम्नलिखित रूप से होती है।

आयु	मांसपेशियों का वजन
जन्म के समय	सम्पूर्ण शरीर के वजन का 23 प्रतिशत
8 वर्ष	27 प्रतिशत
13 वर्ष	43 प्रतिशत

4.3.2 शारीरिक विकास का महत्व–सामान्य शारीरिक विकास का प्रभाव बालक के व्यवहार के चार क्षेत्रों पर पड़ता है।

1. शारीरिक विकास के कारण नाड़ी–संस्थान का विकास होता है तथा मस्तिष्क का विकास होत हैं। इस विकास के कारण बालक में बौद्धिक और मानसिक योग्यताओं का विकास होता है।
2. शारीरिक विकास के कारण बालक की मॉसपेषियों में विकास और वृद्धि होती है।
3. शारीरिक विकास के कारण बालक की अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की कार्य प्रणाली में परिवर्तन होता है। इससे उत्तरबाल्यावस्था में बालक के व्यवहार में अनेक महत्त्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तन होते हैं
4. शारीरिक विकास के कारण शारीरिक संरचना में परिवर्तन होता है। इसमें उसकी लम्बाई–चौड़ाई और ऊॅचाई आदि आते है।
5. शारीरिक विकास के कारण बालक के शरीर के विभिन्न अंग स्वस्थ ढंग से तथा एक–दूसरे से समन्वित होकर कार्य करते हैं।

4.4 क्रियात्मक विकास –

बालक के जीवन में क्रियात्मक योग्यताओं का बहुत अधिक महत्व होता है, क्योंकि इसके द्वारा वह अपने भौतिक एवं समाजिक वातावरण में समायोजन स्थापित करता है। अतः यह आवश्यक है कि उसमें क्रियात्मक क्षमताओं एवं क्रियात्मक कौशलों का विकास हो। चलना, दौड़ना, सीढियों पर चढ़ना, लिखना, नृत्य करना, तैरना आदि क्रियात्मक विकास पर निर्भर करता है। बालक के मानसिक विकास के लिए भी क्रियात्मक क्षमताओं एवं क्रियात्मक कौशलों का विकास बहुत जरूरी होता है।

4.4.1 क्रियात्मक विकास का अर्थ– जन्म के समय शिशु बिलकुल निःसहाय एवं पराश्रित होता है। उसमें हिल–डुल सकने की क्षमता नहीं होती है। धीरे–धीरे उसकी मॉसपेशियों तथा नाड़ियों का विकास होने लगता है जिससे बालक मांसपेशियों की निरर्थक गतियों को नियंत्रित करने लगता है। इस प्रकार बालक में पेशीय नियंत्रण की क्षमता बढ़ने लगती है। उसमें किसी कार्य को करने के लिए निश्चित अंगों के उपयोग की क्षमता बढ़ जाती है और इससे बालक की शारीरिक ऊर्जा की बचत होती है। बालक में इन योग्यताओं के विकास को ही क्रियात्मक योग्यता कहा जाता है।

क्रियात्मक योग्यताओं की परिभाषायें :

1.''क्रियात्मक विकास से तात्पर्य है – मांसपेशियों की उन गतिविधियों का नियंत्रण जो जन्म के समय तथा जन्मोपरान्त निरर्थक तथा अनिश्चित होती है।'' हरलॉक

2.''क्रियात्मक योग्यताओं का तात्पर्य उन विभिन्न प्रकार की शारीरिक गतियों से है जो एक नाड़ियों तथा मांसपेशियों की क्रियाओं के संयोजन के द्वारा सम्भव हो।''– क्रो तथा क्रो

4.4.2 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में क्रियात्मक विकास का महत्व

क्रियात्मक योग्यताओं के विकास का बालक के जीवन में निम्नलिखित महत्व है।

1.अच्छा स्वास्थ्य– बालक का क्रियात्मक विकास जितना ही अच्छा होगा, उसका स्वास्थ्य उतना ही अच्छा होगा साथ ही उसमें अधिक क्रियाशीलता होगी। अच्छे शारीरिक स्वास्थ्य वाले बालक मानसिक रूप से स्वस्थ एवं प्रसन्न रहते हैं बालक का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बहुत कुछ बालक के क्रियात्मक कौशलों पर निर्भर करता है।

2.अवांछित संवेगों को बाहर निकालनाः– अधिक अभ्यास के कारण बालक में संचित शक्ति का व्यय होता है। जिसके कारण अवांछित संवेग और चिंताओं निकलती है।

3.आत्म निर्भरता– जैसे–जैसे क्रियात्मक कौशलों का विकास होता जाता है वैसे–वैसे बालक में आत्मनिर्भरता बढ़ती जाती है। जन्म के समाय वह पूरी तरह से दूसरे पर निर्भर होता है, धीरे–धीरे वह उठने–बैठने चलने और अपने हाथों से खाने–पीने, वस्त्र पहनने और नहाने आदि लग जाता है।

4.आत्म आनन्द– बालक में जब पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में क्रियात्मक योग्यताओं और कौशलों का विकास अच्छा होने पर लगता है तो उसे आनन्द प्राप्त होता है। इस अवस्था में वह खिलौनों के साथ समय बिताता है।

5.समाजीकरण – अच्छे क्रियात्मक विकास के कारण बालकों को सामाजिक कौशलों को सीखने का अवसर प्राप्त होता है। उदाहरण : यदि एक बालक किसी खेल में अच्छी तरह नहीं खेल सकता है तो वह खेल के साथियों के बीच मजाक का पात्र बनता है। इस दशा में बच्चा दूसरे बच्चों के साथ घुल–मिल नहीं पाता और इस प्रकार वहा सामाजिक मूल्यों और कौशलों को नहीं सीख पाता है। इस कारण उस बालक का सामाजिकरण पूरा नही हो पाता है।

6.आत्म प्रत्यय – पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक में अच्छी क्रियात्मक योग्यताओं और कौशलों के विकास होने के कारण बालक में आत्म–विश्वास की भावना उत्पन्न होती है। इसके कारण बालक में धनात्मक आत्म–प्रत्यय का निर्माण होता है।

4.4.3 क्रियात्मक योग्यताओं के प्रकार –

क्रियात्मक योग्यताओं को दो भागों में विभाजित किया है–:

क. स्थूल गतिविधियां– बालक में शुरू के 4–5 वर्षों में स्थूल गतिविधियॉ ही मुख्य रहती है। इन गतिविधियों में शरीर के सभी अंगों का प्रयोग होता है। चलना, दौड़ना, कूदना, फेंकना, तैरना, साइकिल चलाना आदि।

ख. सूक्ष्म क्रियात्मक कौशल – 5 वर्ष की आयु के बाद बालकों में सूक्ष्म क्रियात्मक कौशलों का भी विकास होने लगता है। सूक्ष्म क्रियात्मक कौशलों में छोटी मांसपेशियां शामिल रहती हैं। पकड़ना, चित्र बनाना, लिखना, सोना, खेलना, उपकरणों का प्रयोग करना आदि।

पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक में लिखने का विकास निम्न प्रकार होता है।

आय	लिखने की क्रिया

3 वर्ष	पृष्ठ पर किसी भी स्थान पर लिख सकता है।
4	अपने नाम का प्रथम अक्षर लिख सकता है।
5	अपना नाम लिख सकता है परन्तु अक्षर टेढे–मेढे होते हैं 1 से 5 तक गिनती लिख सकता है।
6	वर्णमाला के सभी अक्षर लिख सकता है। देखकर लिख सकता है। 1 से 20 तक गिनती लिख सकता है।
7	बालक लिख सकते हैं परन्तु अक्षर बडे–बडे होते हैं
8	अब बालक लिखने में कम असुद्धियॉ करते हैं।
9	बालक छोटे–छोटे अक्षर भी लिख सकते है। उनका आकार भी ठीक होता है।

4.5 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में क्रियात्मक विकास

4.5.1 क्रियात्मक कौशल का विकास– बचपन में ही जब बालक का उसकी मांसपेशियों और शरीर पर नियंत्रण हो जाता है तब उसके हाथ और पैरों में क्रियात्मक कौशलों का विकास प्रारम्भ हो जाता है।

पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में ही अधिकतर क्रियात्मक कौशलों का विकास होता है। बालक का जब उसकी मांसपेशियों पर नियन्त्रण हो जाता है। तब उसमे शारीरिक कौशलों का विकास प्रारम्भ होता है। यह कौशल बालक के दैनिक कार्योंके लिए बहुत उपयोगी होते हैं तथा एक आयु –विशेष में कौशलों के आधार पर ही अगली आयु के कौशलों का विकास होता है। इन अवस्थाओं में बालक में क्रियात्मक कौशल दो तरह से होते हैं –

1.हाथ के कौशल – हाथ के कौशल का विकास बालक में पूर्व बाल्यावस्था से भी पहले शुरू हो जाता है। पहले वर्ष के अन्त तक बालक भोजन की वस्तु को मुँह में रखना सीख जाता है। तीन वर्ष बालक अपने छोटे काम स्वयं करने लगता है।

क.कपडे पहनना– कपडे पहिनने के कौशल का विकास डेढ से साढे तीन वर्ष की आयु में सबसे अधिक होता है। तीन साल का बालक कपडों को उतारने की कोशिश करता है। पाँच साल का बच्चा अपने कपडे पहिन और उतार सकता है। लगभग छह वर्ष का बालक जूते– मोजे तथा किसी भी प्रकार के कपडे पहिन सकता है।

ख. बाल सॅवारना– तीन साल का बालक अपने बालों को ब्रुश से संवार सकता है। चार साल का बच्चा अपने बालों को कंधे से काढ़ लेता है परन्तु अच्छी तरह नहीं। लगभग सात वर्ष का बालक अपने बालों को कंधे से अच्छी तरह काढ़ लेता है।

ग. गेंद फेंकना और लपकना :– पूर्व बाल्यावस्था में पहले ही दो साल की अवस्था तक बालक गेंद फेंकना सीख जाता है परन्तु अच्छी तरह गेंद फेंकना लगभग चार वर्ष की

आयु तक ही आ पाता है। छः वर्ष की अवस्था तक इस कौशल का विकास सभी में हो जाता है। लगभग 6 वर्ष की अवस्था के बालक गेंद पकडने में काफी दक्ष हो जाते है।

घ. कापी करना— पूर्व बाल्यावस्था में लगभग 2.5 वर्ष से 5 वर्ष की अवस्था में इस कौशल का विकास होता है। इस अवधि में बच्चे सरल ज्यामितीय आकृतियॉ बना लेने लग जाते है। वह इस अवस्था में ज्यामितीय आकृतियों की नकल करते समय केवल आकार में त्रुटि करते है। बालक की शारीरिक और मानसिक आयु जैसे—जैसे बढ़ती जाती है वैसे—वैसे इस कौशल का विकास होता है।

ड.लिखना— लगभग दो वर्ष की अवस्था से ही इस कौशल का विकास शुरू हो जाता है। 3.5 वर्ष का बालक कुछ बड़े अक्षरों को लिखना सीख जाता है। इस अवस्था में उसका लेखन आकार में बड़ा और क्रम में नहीं होता है। पाँच वर्ष की अवस्था से उसका लिखना क्रम में नहीं होता है परन्तु अक्षरों का आकार छोटा हो जाता है। वह छोटे—छोटे शब्दों को भी लिखने लग जाता है। छह वर्ष का बालक सभी Aphabet लिख सकता है। सात वर्ष का बालक का लिखना काफी अच्छा हो जाता है। नौ वर्ष के बालक का लिखना छोटा, साफ और अच्छा हो जाता है।

2. पैरों का कौशल— पूर्व बाल्यावस्था के प्रारम्भ में ही पैरों की गतियों का समन्वयक ठीक तरह से होने लगता है। वह आगे—पीछे किसी भी प्रकार चल सकता है। तीन वर्ष का बालक अपने पैर के पंजे के सहारे चल सकता है। छः साल के बालक में चलने सम्बन्धी कौशल का विकास वयस्कों की तरह हो जाता है। पैरों में कुछ प्रमुख कौशल निम्न प्रकार होते हैं

क.दौड़ना :— तीन वर्ष का बालक काफी दौड लेता है परन्तु उसके कदम छोटे होते है और वह दौड़ने में अक्सर गिरता है। लगभग पॉच—छ वर्ष की अवस्था तक बालक की मॉसपेशियॉ विकसित हो जाती है कि वह अच्छी तरह दौड़ सकता है।

ख.कूदना, उछलना, छलांग लगाना — तीन साल का बच्चा कूदने लग जाता है। चार वर्ष का बालक अच्छी तरह से कूदने लग जाता है। पाँच वर्ष का बालक कूदने में जो बाधायें आती है उन्हें पार कर लेता है। चार साल का बालक उछलते—उछलते मुड़ सकता है। पॉच वर्ष का बालक उछलते हुए मुड सकता है और पीछे भी घूम सकता है। छः वर्ष का बालक सरल तरीके से रस्सी कूद सकता कता है परन्तु आठ साल की अवस्था तक वह चौकड़ी भरते—भरते किसी भी दिशा में मुड़ सकता है।

ग .सीढ़ी चढ़ना — पूर्व बाल्यावस्था के प्रारम्भ में वह थोड़ा—थोड़ा उतरना सीख जाता है। चार साल का बच्चा सीढ़ियों को पकड़ कर आसानी से चढ़ जाता है और पकड़—पकड़ कर उतरना भी सीख लेता है। लगभग 5 वर्ष का बालक छोटी सीढ़ियों पर बिना सहारे के चढ़ने और उतरने लग जाता है। लगभग छः वर्ष का बालक बडी सीढ़ियों पर जल्दी—जल्दी चढ़ने लग जाता है। लगभग आठ वर्ष की अवस्था तक बच्चे पेड़ पर चढ़ने लग जाते है।

छ.ट्राइसाईकिल चलाना – पूर्व बाल्यावस्था में बालक ट्राइसाईकिल चलाना आसानी से सीख लेते है। लगभग पॉच साल के बच्चे अच्छी तरह तीन पहिए वाली साइकिल चला लेते है। लगभग छः वर्ष का बालक साइकिल भी चला लेता है, परन्तु छोटी साइकिल। आठ वर्ष का बालक दूसरे बच्चों को बिठाकर साइकिल भीड़ में भी चला सकता है। इस कौशल का विकास सीखने के अवसरों एवं अभ्यास पर आधारित है।

द .नृत्य – पूर्व बाल्यावस्था में बालकों में नृत्य की क्षमता उत्पन्न होने लगती है। प्रारम्भ में बालकों के नृत्य में पैर सन्तुलित ढंग से नहीं पड़ते है। अभ्यास के साथ–साथ लगभग छः वर्ष की अवस्था तक काफी अच्छा, किन्तु सरल नृत्य करने लग जाता है।

ध .तैरना – चार साल का बालक तैर सकता है। इस कौशल के विकास में मांसपेशियों के समन्वय की बहुत अधिक आवश्यकता है। लगभग आठ वर्ष के बालक बहुत अच्छी तरह तैरने लग जाते है। इस कौशल में बहुत अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है।

बालक में क्रियात्मक क्रियायें पूर्व बाल्यावस्था से प्रारम्भ हो जाती है। उत्तर बाल्यावस्था में वह सभी क्रियात्मक कौशलों में निपुण हो चुका होता है। इस अवस्था में उसकी क्रियात्मक क्रियायें वयस्कों की तरह हो जाती है।

4.6 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में मनोसामाजिक विकास

सामाजिक प्राणी होने के कारण व्यक्ति अपने समाज या समूह की अपेक्षाओं, आकांक्षाओं, परम्पराओं, मानको, मूल्यों आदि को अर्जित करने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा बालक का व्यवहार धीरे–धीरे परिमार्जित होता है। समाज के सम्पर्क तथा सामाजिक अधिगम के द्वारा सामाजिक गुण बच्चों द्वारा सीखे जाते है।

सामाजिक विकास का अर्थ– जन्म के बाद बालक सामाजिक परिस्थितियों के सम्पर्क में आता है। आयु बढने के साथ–साथ शिशु का सामाजिक जगत बडता जाता है। पूर्व बाल्यावस्था में उसका सम्पर्क पड़ोस के अन्य बच्चों एवं विद्यालयों के साथियों के साथ भी होने लगता है। फिर वे विद्यालयों में शिक्षकों के सम्पर्क में आते है। इस प्रकार आयु बढने के साथ–साथ उसके सम्पर्क का क्षेत्र भी बढ़ जाता है।

परिभाषायें :

''सामाजिक विकास का तात्पर्य सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुसार व्यवहार प्रकट करने की योग्यता का अर्जन से है''

–हरलॉक

''सामाजिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह के आदर्शों के अनुसार वास्तविक व्यवहार को विकसित करता है।''

–चाइल्ड

एक अच्छा नागरिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसका बाल्यावस्था में उपयुक्त सामाजिक विकास हो जिससे वह सामाजिक प्रत्याशाओं तथा समूह के आदर्शों के अनुसार व्यवहार प्रकट करने की योग्यता प्राप्त कर ले।

बालक का सामाजिक संसार जैसे–जैसे बढते जाता है। वैसे परिवार से बाहर के सदस्यों के प्रति बालक की रूचि में विकास होता जाता है। तीन वर्ष के बाद ही बालक में जहॉ सदगुणों का विकास होता है। वहीं प्रतिस्पर्धा, कलह, आक्रामकता, स्वार्थपरता, सहानुभूति, सामाजिक अनुमोदन आदि का विकास होता है। तीसरे–चौथे वर्ष माता–पिता की आज्ञा का अत्यधिक प्रतिरोध पाया जाता है। इन बच्चों में नकारात्मक प्रवृत्ति इतनी अधिक पायी जाती है कि इनके साथ रहना मुश्किल हो जाता है। पूर्व बाल्यावस्था में अनेक प्रकार के सामाजिक व्यवहार दिखाई देते है अनुकरण, प्रतिस्पर्धा, आक्रामकता, कलह, सहयोग, प्रभावी व्यवहार, स्वार्थपरता सहानुभूति,सामाजिक अनुमोदन, नेतृत्व, खेल, नाटकीकरण, रचना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि।

6 से 12 वर्ष के बीच की अवस्था उत्तर बाल्यावस्था कहलाती है। माता– पिता इसे '' चातुर्य की आयु'' शिक्षक '' प्रारम्भिक स्कूल की आयु'' बच्चे गन्दी आयु तथा मनोवैज्ञानिक '' गिरोह या टोली की आयु'' कहते हैं।

इस अवस्था में सामाजिक विकास तेजी से होता है। उनमें सहयोगशीलता का विकास होता है। इस अवस्था में बालक टोली में रहना ज्यादा पसंद करते है। इस अवस्था में बालकों में नेतृत्व क्षमता का विकास तेजी से होता है। धीरे–धीरे उसमें त्याग, आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास, सहयोग आदि भावनाओं का विकास होता है।

पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में जब बालक का सामाजिक विकास पर्याप्त तरह से होता है तो उसी के आधार पर उसमें मानसिक विशेषतायें भी दिखाई देने लगती है।

पूर्व बाल्यावस्था में बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उसके जीवन में जिस प्रकार की सामाजिक अनुभूतियां होती है, उसका विकास उसी के आधार पर होता है। बालक अपने अनुभवों के आधार पर वातावरण के विभिन्न लोगों तथा वस्तुओं के प्रति सकारात्मक अथवा नकारात्मक भावना विकसित करता है। यही से उसकी आगे की अवस्थाओं का विकास होतहा है। जीवन की सामाजिक अनुभूतियों के अनुरूप बच्चे में विकास के प्रतिमान भी प्रदर्शित होते हैं

इस प्रकार पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में सकारात्मक एवं नकारात्मक तत्व विकसित होते हैं जिस बालक में जितनी अधिक सकारात्मक विशेशताएँ होंगी वह उतना ही अधिक सन्तुलित एवं समायोजित होगा।

एरिक्सन ने बालक में मनोसामाजिक विकास की कुल आठ अवस्थाओं का वर्णन किया है। इसमें उन्होने प्रत्येक अवस्था में उत्पन्न विकसित होने वाली मानसिक विशेषताओंको बताया है। प्रत्येक अवस्था में जो भी मानसिक विशेशता उत्पन्न और विकसित होती है वह इस अवस्था में होने वाली सामाजिक अनुभूतियों के कारण उत्पन्न होती है। इन्हीं मानसिक विशेषताओं को उनके प्रभाव के आधार पर सकारात्मक एवं नकारात्मक माना जाता है।

यही मानसिक विशेषताएँ बालक के भावी सामाजिक सम्बन्धों को उपयुक्त या अनुपयुक्त बनाती है। रिक्सन के अनुसार ये अवस्थाए जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक चलती है।

परन्तु उस अध्याय में हम केवल 4 अवस्थाओं के बारे में चर्चा करेंगें जिसमें बालक के पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में उत्पन्न होने वाली मानसिक दशायें ळें

क्रम सं0	अवस्थायें	सकारात्मक दशायें	नकारात्मक दशायें
1.	जन्म – 2 वर्ष	विश्वास	अविश्वास
2.	3 वर्ष – 04 वर्ष	स्वायतता	संदेह
3.	5 वर्ष – 06 वर्ष	पहल	अपराध बोध
4.	7 वर्ष – 12 वर्ष	परिश्रम	हीनता

ऊपर दी हुई तालिका सेयह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व बाल्यावस्था में दूसरी एवं तीसरी अवस्थायें एवं उत्तर बाल्यावस्था में केवल एक अवस्था आती है। उनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार से है।

1.विश्वास – अविश्वास – यह अवस्था जन्म से लेकर 2 वर्ष तक रहती है। यह बालक की वह अवस्था होती है जिसमें वह अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माता–पिता पर आश्रित होता है। यदि उसे स्नेह एवं सुरक्षा मिलती है तो उसमें विश्वास की भावना का विकास होता है। यदि बालक को तिरस्कार एवं असुरक्षा मिलती है। तो उसमें नाकारात्मक अवस्था अविश्वास की भावना का विकास होता है।

2.स्वायन्तता –संदेह – यह पूर्व बाल्यावस्था के विकास की प्रारम्भिक अवस्था है। जिसकी अवधि 3–4 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बालक अपने सामाजिक वातावरण को समझने लगता है और उसमें आत्म प्रदर्शन तथा आत्मनियंत्रण आने लगता है। वह दिनचर्या के अनुसार अपने कार्यों को स्वयं करना चाहता है। यदि परिवारजन उसके कार्यों की सराहना करें तो उसमें स्वतन्त्रता की भावना का विकास होता है। यदि उसके कार्यो की अलोचना की जाय तो उसे अपनी क्षमताओं पर संदेह होने लगता है और उसमें हीनता की भावना आने लगती है जिसके कारण उसका विकास आगे की अवस्थाओं में नकारात्मक पड़ता है।

3.पहल– अपराध बोध– यह भी पूर्व बाल्यावस्था की दूसरी अवस्था है। इसका विस्तार 5 से 6 वर्ष तक होता है। इस अवस्थाा में बालक में उत्तरदायित्व एवं अधिकार की भावना विकसित होती है। इस समय बालक का सामाजिक दायरा बढ़ता है और वह कुद उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करता है। जब उसे इन कार्योंमें सफलता मिलती है और लोगों की प्रशंसा प्राप्त होती है तो उसमें पहल करने की प्रवृत्ति का विकास होता है। यदि वह असफल हो जाता है और उसकी आलोचना होती है तो उसके अन्दर अपराध बोध की भावना का विकास होता है।

4.परिश्रम–हीनता– यह उत्तर बाल्यावस्था की अवस्था है, इसकी अवधि 7 से 12 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बालक की मित्रमंडली बढ़ जाती है और वह उनके साथ तादात्म स्थापित करता है। इस अवस्था में बालक को कुछ नयें कार्यों को सीखने का अवसर

मिलता है अर्थात् उसमें परिश्रम की भावना का विकास होता है। यदि परिश्रम में सफलता प्राप्त होती है तो उसका परिश्रम के प्रति सम्मान की भावना का विकास होता है और यदि सफलता नहीं मिलती है तो वह हीनता की भावना से ग्रसित हो सकता है।

इस प्रकार पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था के मनोसामाजिक विकास में 4 प्रकार की दशायें महत्वपूर्ण होती है। इसमें आयु के अनुसार नये सामाजिक अनुभवों एवं सामाजिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है। विकास की ये अवस्थायें प्रत्यके बालक में अलग–अलग होती है।

4.7 सारांश.

- बालक का शारीरिक विकास उसके व्यवहार को प्रभावित करता है।
- जन्म से लेकर 2 वर्ष की शारीरिक विकास तेजी से होता है परन्तु पूर्व बाल्यावस्था में ये वृद्धि की गति धीमी हो जाती है।
- इस अवस्था में बालक की लम्बाई करीब 46.5 इंच बढ जाती है और शारीरिक क्रियायें भी बढ़ जाती है।
- उत्तर बाल्यावस्था की अवधि 7 से 12 वर्ष तक की होती है। इस समय लडकों की अपेक्षा लडकियों का शारीरिक विकास तेजी से होता है।
- पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालकों में गत्यात्मक कौशलों का विकास 2 रूपों में होता है। 1. हस्त कौशल का विकास 2. पैरों के कौशल का विकास
- पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में गतिक विकास का सम्बन्ध बालक के सामाजिक विकास के साथ होता है।
- पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक में सामाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के साथ ही उसमें विभिन्न अवस्थाओं में मानसिक विशेषताओं का भी विकास होता है।
- बालक में सामाजिक विकास के अनुरूप ही सकारात्मक एवं नकारात्मक दशायें उत्पन्न होती है जो उसके विकास में सहायक होती है।

4.8 टिप्पणी प्रश्न :–

1. बालक के सामान्य व्यवहार एवं शारीरिक विकास में सम्बन्ध।
2. शारीरिक अनुपात
3. क्रियात्मक गतिक योग्यताओं के प्रकार
4. क्रियात्मक गतिक योग्यताओं की विशेषताए

4.9 बोध प्रश्न

निम्नालिखित प्रश्नों के उत्तर सही/गलत में दीजिए।

1. शिशु का शारीरिक/दैहिक विकास गर्भाधान के 20 वें दिन के बाद प्रारम्भ होता है।
2. स्पीयरमैन के अनुसार ''तंत्रिका तंत्र के विकास से बौद्धिक क्षमता में वृद्धि होती है।'

3. 8–10 वर्ष की अवधि में शारीरिक विकास चरम सीमा पर होता है।
4. गतिक विकास की प्रक्रिया पैर से सिर की ओर चलती है।
5. क्रमबद्धता गतिक विकास की एक विशेषता है
6. बालक में गतिक क्षमताओं का विकास 3–12 वर्ष में हो जाता है।
7. 2 वर्ष के बालक में सीढ़ी चढ़ने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।
8. गतिक विकास का क्रम निश्चित होता है।
9. कैरेन हार्नी के अनुसार जन्म के समय नवजात शिशु निरापशु होता है।
10. उत्तर बाल्यावस्था की अवधि 7–16 वर्ष होती है।
11. उत्तर बाल्यावस्था में सामाजिक विकास की प्रमुख विशेषता नेतृत्व होती है।
12. बालक के शारीरिक विकास के अन्तर्गत श्वास तंत्र की विकसित होता है।

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न :

1. पूर्व एवं उत्तर बाल्यवस्था में बालक के वाह्य अंगों के विकास पर प्रकाश डालिये।
2. गतिक अथवा क्रियात्मक विकास के परिपेक्ष्य में पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में होने वाले गतिक विकास की व्याख्या करिये।
3. गतिक क्षमताओं एवं गतिक कौशल में अन्तर बताइये।
4. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में सामाजिक विकास की व्याख्या करिये।
5. बालक के विकास में सामाजिक विकास के महत्व पर प्रकाश डालिये।

बोध प्रश्नों के उत्तर :– 1. असत्य 2. सत्य 3. असत्य 4. असत्य 5. सत्य 6. सत्य 7. असत्य 8. सत्य 9.सत्य 10. असत्य 11. सत्य 12. सत्य

4.11 सन्दर्भ पुस्तकें –

1. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, जितेन्द्र कुमार उपाध्याय, राजेन्द्र सिंह– विकासात्मक मनोविज्ञान–मोतीलाल बनारसी दास।
2. सुरेश भटनागर – बाल विकास एवं बाल मनोविज्ञान– लायल बुक डिपो, मेरठ।
3. डा0 रामजी श्रीवास्तव, डा0काजी गौस आलम– मोतीलाल
4. भाई योगेन्द्रजीत– मानव विकास का मनोविज्ञान – विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
5. डा0 प्रीती वर्मा, डा0डी0एन0 श्रीवास्तव– बाल मनोविज्ञान, बाल विकास– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
6. डा0 मधु अस्थाना, डा0 किरन बाला वर्मा –व्यक्तित्व मनोविज्ञान.– मोतीलाल बनारसी दास

इकाई 5. प्रत्यक्षात्मक विकास, भाषा विकास एवं वाणी विकासएवं संज्ञानात्मक विकास (Perceptual Development, Language & Speech Development, Cognitive Development)

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 प्रत्यक्षीकरण का विकास
5.2.1 पूर्व बाल्यावस्था में प्रात्यक्षिक विकास
5.2.2 उत्तर बाल्यावस्था में प्रात्यक्षिक विकास
5.3 बाल्यावस्था में भाषा व वाकशक्ति का विकास
5.3.1 पूर्व बाल्यावस्था में भाषा एवं वाक शक्ति का विकास
5.3.2 उत्तर बाल्यावस्था में भाषा एवं वाक शक्ति का विकास
5.4 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्थओं में संज्ञानात्मक विकास
5.4.1 संज्ञानात्मक विकास की अवस्थायें
5.5 सारांश
5.6 बोध प्रश्न
5.7 टिप्पणी प्रश्न
5.8निबन्धात्मक प्रश्न
5.9 संदर्भ पुस्तकें

5.0 प्रस्तावना –

प्रत्येक बालक के जीवन में पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में प्रत्यक्षीकरण, भाषा एवं वाकशक्ति तथा संज्ञानात्मक विकास का बहुत अधिक महत्व है। प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा हम वाह्य वातावरण की घटनाओ के बारे में ज्ञान प्राप्त करते है और उनका विष्लेषण एवं व्याख्या करते है। प्राणी अपने वातावरण में पायी जाने वाली उत्तेजनाओं को ग्रहण करता है और फिर उनके प्रति अपने व्यवहार के द्वारा अनुक्रिया दिखाता है। जब बालक अपने पूर्व अनुभव द्वारा वातावरण में पाये जाने वाले उद्दीपकों के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है तो इस प्रक्रिया को प्रत्यक्षीकरण कहते है।
बालक अपनी समस्त ज्ञानेन्द्रियों (आख, नाक, कान, त्वचा, जीभ) द्वारा वातावरण में पाये जाने वाले अलग–अलग उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण करता है इसलिए प्रत्यक्षीकरण भी कई प्रकार के होते है। जैसे दृष्टि परक, गन्ध परक, श्रवण परक आदि। जैसे–जैसे बालक का विकास होता जाता है, वातावरण से उद्दीपकों को ग्रहण करने का विकास भी उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता जाता है। जिसके फलस्वरूप वह वस्तओुं को उनके नाम, रूप, गुण, के सन्दर्भ में पहचाना सीख लेता है और उनमें विभेदन करना सीख लेता है।

बालक में जन्म के पष्चात् भाषा (वाक् शक्ति) विकास का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह एक प्रकार से क्रमबद्ध एवं समयबद्ध प्रक्रिया है। भाषा विकास कई अवस्थाओं में होता है। इन्हीं अवस्थाओं के अन्तर्गत बालक अपने विचारों, भावनाओं को दूसरे लोगो तक पहुचाने का काम करता है। भाषा के द्वारा बालक का समाजीकरण होता है। स्कूल जाने से पूर्व बच्चों में भाषा ज्ञान का विकास हो जाता है। जो उनके बौद्धिक विकास की सबसे अच्छी कसौटी है। आय के साथ–साथ बालकों में भाषा विकास में भी वृद्धि होती है। भाषा बालक के विचारों, भावनाओं को दूसरों तक पहुॅचाने का माध्यम होती है, यह षाब्दिक तथा अशाब्दिक हो सकती है। दोनों प्रकार की भाषा का उपयोग समय तथा परिस्थिति के अनुसार बालक करता है।

ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को संज्ञान कहा जाता है। अपने तथा वातावरण के बारे में जब बालक ज्ञान, विचार, धारणा या व्याख्या करता है तो इसे संज्ञान कहा जाता है। संज्ञानात्मक विकास के अन्तर्गत मानसिक प्रक्रियायें, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, समस्या समाधान, निर्णय और चिन्तन आते है। यह एक प्रकार की व्यकितगत प्रक्रिया है। क्योंकि किसी बालक की संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में तभी जाना जा सकता है। जब वह लिखकर, बोलकर या किसी कार्य को करके दूसरे व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खींचता है।

प्रस्तुत इकाई में आप बालक में प्रत्यक्षीकरण का विकास, भाषा एवं वाक्षक्ति का विकास तथा संज्ञानात्मक विकास के बारे में अध्ययन कर सकेंगें।

5.1 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :–

1. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक के प्रत्यक्षीकरण विकास को जान सकेंगे।
2. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक में भाषा एवं वाकषक्ति के विकास को समझ सकेंगें।
3. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक के संज्ञानात्मक विकास को समझ सकेंगें।

,

5.2 प्रत्यक्षीकरण का विकास–

बलक किसी न किसी वातावरण में रहता है। समय–समय पर इस वातावरण की उत्तेजनाएॅ बालक में अनुक्रिया उत्पन्न करती है। ज्ञानेन्द्रियें (ऑख, कान, नाक, जीभ, और त्वचा) के माध्यम से बालक मे उत्तेजनायें होती है और वाह्य गुणों का ज्ञान प्राप्त होता है उसे सांवेदनिक ज्ञान कहा जाता है। उच्च मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा जब सांवेदिक ज्ञान

प्राप्त किया जाता है तो इस प्रक्रिया को प्रत्यक्षीकरण कहा जाता है। वातावरण से प्राप्त होने वाली उत्तेजनाओं का तुरन्त ज्ञान कराने वाली मानसिक प्रक्रिया प्रत्यक्षीकरण कहलाती है। दैनिक जीवन के अनुभवों को यदि देखा जाय तो प्रत्यक्षीकरण एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा हम सभी अपने चारों ओर के वातावरण का ज्ञान प्राप्त करते है तथा अन्य सभी प्रकार की सूचनाएँ और उत्तेजनायें व्यक्ति इसी प्रक्रिया के द्वारा ग्रहण करता है।

''प्रत्यक्षीकरण वह मनोवैज्ञानिक प्रकार्य है जिनके द्वारा प्राणी वातावरण की स्थिति या परिवर्तन की सूचना ग्रहण करता है या सूचना को प्रोसेस करता है''।

''प्रत्यक्षीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा जीव को अपने आन्तरिक अंगो तथा अपने वातावरण के बारे में सूचना मिलती है।''

—कोलमैन

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण एक सक्रिय, चयनात्मक एवं संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा प्राणी को अपने आन्तरिक अवयवों तथा वाह्य वातावरणीय उद्दीपकों के बारे में तुरन्त ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया प्राणी के केन्द्रीय नाडी संस्थान में घटित होती है जिसका प्रत्यक्ष निरीक्षण हम नहीं कर सकते है। प्रत्यक्षीकरण प्रक्रीया हमेशा संरचित तथा संगठित होती है। संवेदना और प्रत्यक्षीकरण किसी भी ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से हो सकते है।

उदाहरण –. ऑखों के द्वारा उद्दीपके के रूप , रंग, आकार का ज्ञान होता है, कानों के द्वारा उद्दीपक की ध्वनियॉ सुनाई देती है, जीभ के द्वारा उद्दीपक के स्वाद अर्थात् कडुवा, मीठा, नमकीन आदि का ज्ञान होता है, नाक के द्वारा उद्दीपक की गन्ध का ज्ञान होता है तथा त्वचा द्वारा स्पर्ष की अनुभूति होती है।

प्रत्यक्षीकरण एक महत्वपूर्ण मानसिक प्रक्रिया है। मानव व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रियाओं का सही अध्ययन प्रत्यक्षीकरण पर ही निर्भर करता है। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया संवेदना की क्रिया से प्रारम्भ होती है, और किसी व्यवहार की क्रिया के पूर्व तक जारी रहती है। अतः प्रत्यक्षीकरण संवेदना एवं व्यवहार की अन्तःक्रिया का परिणाम है।

प्रत्यक्षण की विशेषतायें –

प्रत्यक्षण एक मानसिक प्रक्रिया है तथा इसकी कुछ विसेषताएँ निम्नलिखित है

1. प्रत्यक्षीकरण के लिए उद्दीपक की उपस्थिति अनिवार्य है।
2. प्रत्यक्षीकरण में उद्दीपक का तात्कालिक अनुभव होता है।
3. यह एक सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है।
4. प्रत्यक्षण में उद्दीपक संगठन पाया जाता हैं
5. प्रत्यक्षण मे चयनात्मकता होती है।
6. प्रत्यक्षण संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है।

5.2.1 पूर्व बाल्यावस्था में प्रात्यक्षिक विकास

आकृति .आकार एवं रंगों के प्रत्यक्षण का विकास बालक में जन्म के 2 माह के बाद शुरू हो जाता है।

पूर्व बाल्यावस्था में बालक सबसे लम्बी एवं छोटी वस्तुओं में विभेद करना सीख लेता है। इस अवस्था में वह विभिन्न प्रकार की आकृतियों में भी विभेद करने लगता है। जैसे–जैसे बालक का विकास होता जाता है, वह भाषा के साथ प्रत्यक्षीकरण में भाषा एवं प्रतीकों का प्रयोग करने लगता है।

4 वर्ष से 7 वर्ष के बालक छोटे एवं बडे उद्दीपकों में विभेद करना सीख लेते है। पूर्व बाल्यावस्था में बालक की ऑखो में शंकुओं का विकास हो जाता है और वह रंगों का प्रत्यक्षीकरण करने लगता है। रंगों के शुद्ध प्रत्यक्षीकरण की योग्यता 4 से 8 वर्ष के बीच में विकसित होती है। इस अवस्था में बालक में दूरी का प्रत्यक्षण भी प्रारम्भ हो जाता है। गहराई का प्रत्यक्षीकरण भी इस अवस्था में पूर्ण रूप से हो जाता है। इस अवस्था में संख्या का प्रत्यक्षीकरण भी प्रारम्भ हो जाता है। 3–4 वर्ष का बालक संख्या को रटकर सुन सकता है।

5.2.2 उत्तर बाल्यावस्था में प्रात्यक्षिक विकास

उत्तर बाल्यावस्था में बालक में समय का प्रत्यक्षण होने लगता है। 6–7 वर्ष का बालक साल का अर्थ समझने लगता है और घडी देखकर समय बताने का भी वह प्रयास करने लगता है। 9–10 वर्ष की अवस्था में उसकी यह योग्यता पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। 10 वर्ष का बालक वर्तमान एवं आने वाले समय की कल्पना करने लगता है। 1–8 वर्ष का बालक समय के बारे में प्रश्न करने लगते है संख्या का प्रत्यक्षीकरण पूर्व बाल्यावस्था से प्रारम्भ होकर इस अवस्था में अधिक विकसित होने लगता है। 9–10 वर्ष कके बालक में 2000 तक की संख्या के संप्रत्यय का विकास हो जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में संख्या का विकास शीघ्रता से होता है। इस अवस्था में बालक रटकर नहीं बल्कि संख्याओं को समझने लगता है।

इस अवस्था में बालक मुद्राओं की पहचान अलग–अलग करने लगता है और उसका उचित प्रयोग करने लगता है।

5.3 बाल्यकाल : भाषा विकास

मनुष्य जीवन का महत्वपूर्ण तत्व ''भाषा'' है जो उसे अन्य जीवों से इसे अलग करती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने की अनिवार्यता के कारण ही उसमें भाषा विकास का होना आवष्यक है। व्यक्ति को एक–दूसरे के विचारों, अभिव्यक्तियों को स्वयं समझने व दूसरे लोगों के बीच सूचनाओं के आदान–प्रदान का सबसे सशक्त माध्यम भाषा है। मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति का भाषा के द्वारा ही विकास हो सकता है। भाषा विकास ही मानव एवं पषु व्यवहार में अन्तर करने के लिए उत्तरदायी है। भाषा का सम्बन्ध ध्वनि एवं सम्प्रत्ययों से होता है।

परिभाषायें

1. ''भाषा अन्य व्यक्तियों के साथ विचारों के आदान–प्रदान व सूचना–सम्प्रेषण की योग्यता है।''–ए0बी0 हरलॉक
2. ''भाषा, ध्वनियों द्वारा मानव के भावों की अभिवृद्धि है''। – स्वीट

मानव जीवन में भाषा का सर्वश्रेष्ठ महत्त्व है। भाषा के कारण ही मानव अन्य प्राणियों से अलग पहचान रखता है। भाषा विकास के द्वारा बालक में अर्थ विकास, सम्प्रत्यय विकास, बौद्धिक विकास एवं सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं का संचालन एवं नियंत्रण सम्भव हो पाता है।

भाषा की विशेषताऐं– भाषा की निम्नलिखित विशेषतायें है–

1. भाषा विकास के द्वारा ही समाज में अपने विचारों का आदान–प्रदान दूसरे व्यक्तियों से करने में समर्थ होता है।
2. भाषा अन्य व्यक्तियों से बात करने की योग्यता है।
3. भाषा सम्प्रत्यय निर्माण व विकास का आधार है।
4. भाषा शैक्षिक गुणों के अर्जन की प्रक्रिया है। जिसके द्वारा लिखने–पढ़ने व बोलने की कला प्रदर्षित होती है।
5. भाषा सभ्यता एवं संस्कृति की प्रतीक है।
6. भाषा का बुद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध होता हैं
7. भाषा–शैली, विचारों का परिधान है।
8. भाषा विकास बालक के दैहिक, मानसिकएवं सामाजिक विकास के साथ–साथ चलने वाली प्रक्रिया है।

विचारों के आदान–प्रदान, सामाजिकता एवं मानसिक आवेगों को व्यक्त करने में भाषा का बहुत अधिक महत्व है। सामाजिक जीवन में भाषा की बहुत अधिक उपयोगिता है। जब बालक में भाषा का विकास ठीक तरह नहीं होता है, तो वह अपनी भावनाओं को सही रूप में व्यक्त नहीं कर सकता और उसके सामने कई समस्यायें उत्पन्न हो जाती है। भाषा के बिना बालक वातावरण के साथ समायोजन स्थापित नही कर सकता। यह विचारों के आदान–प्रदान का सबसे अच्छा माध्यम होती है। जिस तरह से बालक का शारीरिक मानसिक और सामाजिक विकास होता है। उसी तरह भाषा का विकास भी होता है। यह बालक के सामाजिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष होता है। भाषा के द्वारा ही बालक अपने आस–पास के लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। भाषा के जानने पर ही बालक वातावरण में उपस्थित वस्तुओं के नाम, गुण और उनके उपयोग को समझ पाता है। भाषा क्षमता के आधार पर ही बालक में सामाजिक मूल्यों तथा सम्प्रत्ययों का विकास होता है। बालक में भाषा कौषल का विकास बाल्यावस्था में ही प्रारम्भ हो जाता है।

भाषा अपने विचारों को दूसरे व्यक्तियों तक पहुंचाने की योग्यता है। इसमें विचार, अनुभूति तथा संदेष वाहन को प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसके अन्तर्गत बोलना, लिखना, सुनना, पढ़ना, चेहरे के भाव, मुख मुद्रा, कला आदि आते है। बोलना, भाषा का

एक अंग है और संदेष देने का एक पक्ष है। इसमें ध्वनि एवं प्रतीकों के माध्यम से अपने अभिप्राय को व्यक्त किये जाने की क्षमता होती है।

5.3.1 पूर्व बाल्यावस्था में भाषा एवं वाकशक्ति का विकास

भाषा की नींव बचपन में ही पड़ जाती है पूर्व बाल्यावस्था में भाषा विकास की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। भाषा विकास बालक के लिए एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रत्यय है जिसके लिए पूर्व–बाल्यावस्था एक महत्वपूर्ण अवस्था होती है। स्कूल प्रवेश की आयु तक बालक के पास इतना अर्थ–भण्डार व शब्द भण्डार हो जाता है कि वह अपरिचित लोगों की हिदायतें या जो कहानियां उसे पढ़कर सुनायी जाती है उन्हें समझ सके। इस आयु में क्रिया, विशेषण, सर्वनाम, संयोजक, एवं उपसर्ग तथा परसर्ग का अधिक प्रयोग बालक करता है। वर्णनात्मक वाक्यों के प्रयोग में 2.5 या 4.5 वर्ष के बीच अधिक वृद्धि होती है।

छोटा बालक न केवल अनेक नये शब्दों के अर्थ सीख लेता है बल्कि जाने–पहचाने शब्दों के नये अर्थ भी सीख लेता है। अधिकतर लड़कियों का शब्द भण्डार लड़कों की षब्द भण्डार क्षमता से प्रत्येक आयु में अधिक होता है। 6 वर्ष की आयु तक बालक जोड़, घटाव, गुणा एवं भाव करना सीख लेता है। तीन चार वर्ष की अवस्था मे व्याकरणात्मक दोष बालक में पाया जाता है। तीन वर्ष की आयु के बाद अधिकतर छोटे बालक व्याकरण की गलतियॉ कम करके अपनी भाषा में सुधार करते है। इस आयु के बालकों में शब्द उच्चारण का दोष पाया जाता है।

प्रत्येक बालक में भाषा का विषय, भाषा की आवश्यकता के अनुसार अलग–अलग होता है। लड़कियॉ–लड़कों से अधिक बोलती है। लोगों एवं चीजों के बारे में बातचीत करने की वृद्धि होती है। लड़कियॉ लड़कों की अपेक्षा लोगों के बारे में अधिक चर्चा करती है। बालक की बातें लगभग एक तिहाई परिवार, माता, पिता, भाई, बहनों इत्यादि के सम्बन्ध में होती है।

आयु के साथ–साथ बालकों के सीखने की गति में भी वृद्धि होती है। पूर्व बाल्यकाल में बालक, शब्द से लेकर वाक्य विन्यास तक की सभी क्रियायें सीख लेता है। हाइडर बन्धुओं ने अध्ययन करके यह परिणाम निकाला है कि

1. लडकियों की भाषा का विकास लड़कों की अपेक्षा अधिक तेजी से होता है।
2. लड़कों की अपेक्षा लडकियों के वाक्यों में शब्द संख्या अधिक होती है।
3. अपनी बात को ढंग से प्रस्तुत करने में लड़कियॉ अधिक तेज होती है।

भाषा के विकास मे समुदाय, घर, विद्यालय, परिवार की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। वस्तुओं को देखकर उसका प्रत्यय–ज्ञान उसे हो जाता है और उसके पष्चात् बालक उसे अभिव्यक्ति करता है।

पूर्व–बाल्यावस्था तक बालक के दो प्रकार के शब्द भण्डार विकसित होते है।

1. **सामान्य शब्द भण्डार**– सामान्य परिस्थितियों में जिन शब्दों का प्रयोग बालक करता है, वे सभी शब्द उसकी सामान्य शब्द भण्डार के अन्तर्गत आते है। प्रारम्भ में वह

संज्ञाओं से सम्बन्धित शब्द बोलता है। अनेक संज्ञाओं को सीखने के बाद वह क्रियाओं से सम्बन्धित शब्द जैसे लो, दे दो, पकडो, आदि शब्द सीखता है। लगभग डेढ़ वर्ष की अवस्था में यह विशेषण शब्दों का प्रयोग सीखता है।

2. **विशिष्ट शब्द भण्डार**– बालकों का दूसरे प्रकार का शब्द भण्डार विशिष्ट शब्द–भण्डार है। बालक के इस शब्द–भण्डार में वे शब्द आते है जो बालक कुछ विशिष्ट अवसरों पर प्रयोग करता है। बालक में इस शब्द–भण्डार का विकास लगभग तीन वर्ष की अवस्था के बाद प्रारम्भ होता है। बालक में उत्तर बाल्यावस्था में विशिष्ट शब्द भण्डार का विकास तेजी से होता है। बालक की विशिष्ट शब्दावली में मुख्यतः निम्न क्षेत्रों से सम्बन्धित शब्द होते है

क. **रंगों से सम्बन्धित शब्द**– लगभग चार वर्ष की आयु तक बालक प्राथमिक रंगों से सम्बन्धित शब्दों को सीख लेता है।

ख. **सख्याओं से सम्बन्धित शब्द**– इस प्रकार के शब्द–भण्डार में संख्याओं, पहाड़ों, आदि से सम्बन्धित शब्द आते है।

ग. **समय सम्बन्धी शब्द**– इस प्रकार के शब्द–भण्डार में दिन, माह, वर्ष आदि से सम्बन्धित शब्द, सुबह, दोपहर, शाम, आज, कल, परसों आदि शब्द सीखता है। लगभग सात वर्ष की अवस्था तक वह इस शब्द भण्डार से सम्बन्धित अधिकतर शब्द सीख जाता है। जाड़ा, गर्मी, बरसार, दिन और रात जैसे शब्द भी इसी शब्द भण्डार से सम्बन्धित है।

घ. **धन से सम्बन्धित शब्द**– लगभग पॉच वर्ष की अवस्था तक वह विभिन्न सिक्कों से सम्बन्धित शब्द सीख जाता है। इस शब्द–भण्डार का विकास मुख्यतः सिक्कों के प्रयोग पर निर्भर करता है।

ड़ **अशिष्ट शब्द भण्डार** – बालक चार से आठ वर्ष की अवस्था में अधिकांश गन्दे और गाली–गलौज से सम्बन्धित शब्द सीख लेता है।

पूर्व–बाल्यावस्था के प्रारम्भ में बालक के वाक्यों में षब्दों की संख्या दो से बढ़कर तीन और चार होती जाती है। तीन वर्ष का बालक तीन षब्दों वाले वाक्य को बोल लेता है। चार वर्ष के बालक के वाक्यों में चार या पॉच षब्द होते है। इस अवस्था तक उसके जो वाक्य होते है, वे छोटे और अपूर्ण होते है।

पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में शब्द भण्डार की क्षमता

भाषा विकास के सम्बन्ध में सीशोर ने एक अध्ययन किया और पूर्व बाल्यावस्था से उत्तर बाल्यावस्था तक बालक कितने शब्दों को सीख सकता है, उसे निम्न तालिका द्वारा बताया –

आयु (वर्ष में)	शब्द
3	40000
4	5,600

5	9,600
6	14,700
7	21,200
8	26,300
10	34,300
12	50000

c

5.3.2 उत्तर बाल्यावस्था में भाषा एवं वाकशक्ति का विकास

बालक में उत्तर बाल्यावस्था की भाषा में पूर्व बाल्यावस्था में सीखी गयी भाषा से गुणात्मक तथा पारिवात्मक अन्तर होता है। बालक–बालिकाओं में अन्तर होता है बालक–बालक एवं बालिका–बालिका में भी भाषायी अन्तर पाया जाता है। लड़कों में भाषा सम्बन्धी दोष भी लड़कियों से अधिक होते है। इस अवस्था के बालकों का शब्द भण्डार काफी विकसित हो चुका होता है। वार्तालाप की सामग्री मे बहुत बड जाती है। बोलने की गति तीव्र हो जाती है। वाक्यों की लम्बाई एवं जटिलता में वृद्धि हो जाती है। इस अवस्था में बालक में निम्नलिखित भाषायी विशेषतायें मिलती है।

उत्तर बाल्यावस्था में बालक का सामान्य शब्द भण्डार बडी ही तेजी से बढ़ता है। स्कूल मे पढ़ने से, अध्ययन से, दूसरे की बातों को सुनने से, रेडियो एवं टेलीविजन से बालक अपना षब्द भण्डार बढ़ता है और बोलने व लिखने में नये सीखे हुए शब्दों का प्रयोग करता है। पहली कक्षा का औसत बालक 20,000 से 24,000 तक शब्द जानता है। छठी कक्षा तक बालक लगभग 50,000 शब्द जान जाता है। उत्तर बाल्यावस्था में बालक विद्यालयी परिवेष से समायोजन स्थापित करता है इसलिए सामान्य शब्दों के साथ–साथ विशिष्ट शब्दावलियों का विकास भी काफी तेजी से होता है। बालक शिष्टाचार के शब्दों को विद्यालय में ही सीखता है। उत्तर बाल्यावस्था में एक नये प्रकार की भाषा दिखायी देती है जिसे 'गुप्त' भाषा कहा जाता है। इसका प्रयोग बालक अपने घनिष्ट मित्रों से बातचीत करने में करता है। गुप्त भाषा बालक की अपनी ही बोली की विकृत रूप हो सकती है या अपने से बड़े आयु के बालकों की गुप्त भाषा की नकल हो। लिखित गुप्त भाषा में शब्दों या विचारों के लिए प्रतीकों या टेढ़ी–मेढ़ी रेखाकृतियों के रूप में संकेतों का प्रयोग होता है। लड़कियॉ गुप्त भाषा का प्रयोग लड़कों की अपेक्षा अधिक करती है ।

व्याकरण की जो गलतियॉ पूर्व बाल्यावस्था में होती है उनमें निरन्तर सुधार होता जाता है। उच्चारण की गलतियॉ इस आयु में बहुत कम होती है। इस अवस्था में बालक अधिक लम्बे एवं जटिल वाक्यों का निर्माण करता है। इस अवस्था में उच्चारण सम्बन्धी दोष समाप्त हो चुके होते है। 6 वर्ष के बालक सभी तरह की वाक्य रचनाओं में कुषल हो जाते हैं। तब से लेकर 9 या दस वर्ष की आयु तक उसके वाक्यों की लम्बाई बढ़ती हैं । 9 वर्ष की आयु के बाद धीरे–धीरे बालक छोटे और अधिक सुगठित वाक्यों का प्रयोग करने लगता है। अन्य बालकों से बातचीत करते समय बालक पूर्ण वाक्यों के बजाय कई

शब्दों का प्रयोग करता है क्योंकि बालक के लिए वाक्य रचना कठिन होती है। इसलिए इस आयु में भी व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियॉ कम होने लगती है।

इस अवस्था के अन्त तक बालक की भाषा स्वकेंद्रित एवं समाज केंद्रित हो जाती है।

मनोवैज्ञानिक जीन पियाजे ने बालकों की भाषा को दो भागों में विभक्त किया है–

1. **स्वकेन्द्रित भाषा**– जब बालक अपनी वस्तुओं, रूचियों, पसन्दगी एवं इच्छाओं से सम्बन्धित बातें , अपने सम्बन्धित व्यक्तियों एवं वस्तुओं की चर्चा परिचर्चा करते है तो इस प्रकार की भाषा को स्वकेन्द्रित भाषा की संज्ञा दी जाती है।
2. **समाज केन्द्रित भाषा**– आयु एवं सामाजिक सम्पर्क बढ़ने के कारण बालक परिवार एवं पड़ोंस की सीमा से निकलकर मुहल्लों एवं विद्यालयों के सम्पर्क में आ चुका होता है। जिसके कारण वह अन्य व्यक्तियों व वस्तुओं के बारे में भी बातचीत करने लगता है। उत्तर बाल्यावस्था की 90 प्रतिषत भाषा सामग्री अन्य व्यक्तियों व वस्तुओं के बारे में ही होती है। वह दूसरे परिवार, पाठषाला, खेलकूल, मित्रों एवं पशुओं के सन्दर्भ में भाषा सामग्री को विकसित करता है। अतः इस अवस्था में भाषा स्वकेन्द्रित से समाज केन्द्रित हो जाती है। पूर्व बाल्यावस्था के अन्तिम चरण में बालक को डींग हॉकने में मजा आता है। किन्तु उत्तर बाल्यावस्था में यह प्रवृत्ति कम होने लगती है। दूसरों की आलोचना करना इस अवस्था की मुख्य्य विसेषता है।

पॉच वर्ष के बालक के वाक्य में छह से दस शब्द तक हो सकते है। इस अवस्था तक वह साधारण वाक्यों की अपेक्षा मिश्रित और संयुक्त वाक्यों, का प्रयोग करने लगता है। बालक जब स्कूल जाने लगता है तब उसके वाक्य अधिक बड़े मिश्रित और संयुक्त होने लग जाते है।

भाषा के द्वारा ही बालक का समाजीकरण होता है अर्थात् 2 व्यक्तियों के बीच में परस्पर अन्तःक्रियायें होती है। भाषा विकास बालक के सामाजीकरण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। भाषायी योग्यता के आधार पर बालक में सामाजिक मूल्यों का विकास होता है।

5.4 संज्ञानात्मक विकास–

मानव शिशु जन्म के समय ज्ञानरहित होता है और वह भौतिक वातावरण में स्थित उद्दीपकों के प्रति ठीक तरह से अनुक्रियाएँ नहीं कर सकता है लेकिन जैसे–जैसे वह विकास की ओर बढ़ता होता है उसकी संज्ञानात्मक क्षमता का विकास भीष्होता जाता है। बालक अपने विकास क्रम में इन्हीं संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं की सहायता से वाह्य वातावरण में स्थित उद्दीपकों के प्रति अनुक्रिया करता है और वातावरण से समायोजन करता है।

संज्ञान–सूचना–संसाधन की एक प्रकिया है इसमें प्राणी वाह्य जगत से अपने ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उत्तेनाएँ ग्रहण करता है फिर वह उनके बारे में साहचर्यो एवं प्रतीको के माध्यम से चिन्तन करके उन्हें समझने का प्रयास करता है (इस प्रकार उद्दीपक के बारे में एक संज्ञानात्मक संरचना विकसित करता है।) इसके बाद उद्दीपकों के प्रति

अनुक्रिया करता है। इस प्रकार प्राणी उद्दीपक के प्रति सीधे अनुक्रिया नहीं करता है बल्कि मध्यस्थताकारी अनुक्रियाओं के आधार पर व्यवहार प्रकट करता है।

संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं की विशेषताएँ–

1. संज्ञानात्मक प्रक्रिया एक जटिल मानसिक योग्यता है।
2. वह एक अर्जित योग्यता है जो जीवन पर्यन्त चलती रहती है।
3. इसमें अमूर्तीकरण पाया जाता है।
4. इसमें प्रत्यक्षीकरण प्रक्रम घटित होता है।
5. इसमें प्रतीकों का उपयोग होता है।
6. प्राणी का संज्ञान पूर्णतः व्यक्तिगत होता है।
7. वातावरण के बारे में ज्ञान प्राप्त करने और समझकर व्यवहार करने की प्रक्रिया है।
8. बालक के आयु, शिक्षा ओर पूर्वानुभव में जैसे–जैसे वृद्धि होगी, संज्ञानात्मक क्षमता में भी वृद्धि होगी।

संज्ञान का तात्पर्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है। संज्ञान के अन्तर्गत अवधान, स्मरण, चिन्तन, कल्पना, अधिगम, सम्प्रत्ययीकरण इत्यादि मानसिक प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया जा सकता है। इन मानसिक प्रक्रियाओं का नियंत्रण मस्तिष्क के सेरीब्रम कॉर्टेक्स नाम उच्च केन्द्र से होता है।

"संज्ञानात्मक क्षमता व क्षमता है जिसके द्वारा भौतिक परिवेष में विचारपूर्वक प्रभावपूर्ण ढंग से एवं सुविधाजनक रूप में व्यक्ति कार्य व समायोजन करता है। **–स्टॉट,**

सामान्य अर्थ में वातावरणीय उद्दीपकों की जानकारी को संज्ञान कहा जाता है। अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओ में बालक भौतिक जगत की जानकारी इन्हीं प्रक्रियाओं के द्वारा ग्रहण करता है। ये प्रक्रियाएँ बालक के व्यवहार एवं समायोजन के लिए उपयोगी होती है। क्योंकि बालक का व्यवहार उसके संज्ञान द्वारा निर्देशित, नियंत्रित एवं प्रभावित होता है। जब बालक वातावरण में उपस्थित तत्वों का प्रत्यक्षण करता है, तो उन तत्वों को वह विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से समझने का प्रयास करता है, और उन तत्वों के सम्ब्न्ध में वह अमूर्त चिन्तन करने लगता है। इस प्रकार बालक के भीतर इस प्रक्रिया से एक ज्ञान भण्डार का निर्माण होता है। बालक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं शैशवास्था, बचपनावस्था, एवं बाल्यावस्था में परिपक्वता की कमी के कारण तार्किक चिन्तन नही कर पाता है। परन्तु जैसे–जैसे आयु में वृद्धि होती है बालक संज्ञानात्मक रूप से परिपक्व हो जाता है। प्रारम्भ में बालक काा चिन्तन तार्किक न होकर अतार्किक होता है किन्तु वयस्क होने पर बालक का यह अतार्किक चिन्तन तार्किक चिन्तन के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

5.4.1 पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएँ

विकासवादी मनोवैज्ञानिक जीन पियाजे ने बालक में संज्ञाानात्मक विकास को चार अवस्थाओं में विभक्त किया है। जन्म के समय नवजात शिशु का बाहरी जगत से किसी

प्रकार का कोई सम्पर्क व सम्बन्ध नहीं रहता है अर्थात् बालक इनसे पूरी तरह अपरिचित होता है। किन्तु धीरे–धीरे बालक आयु वृद्धि व परिपक्वता के कारण अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाहरी वातावरण से परिचित होने लगता है और धीरे–धीरे बालक में ज्ञान या चिन्तन का विकास होने लगता है।

जीन पियाजे द्वारा पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में संज्ञानात्मक विकास की निम्न अवस्थाऐं होती है–

<u>पूर्व बाल्यावस्था में संज्ञानात्मक विकास</u>– इस अवस्था में दो अवस्थाऐं आती है–

क– संवेदी पेशीय अवस्था– पेशीय अवस्था संज्ञानात्मक विकास की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में बालक भौतिक जगत की जानकार अपनी संवेदनाओं, शारीरिक एवं पेशीय क्रियाओं के माध्यम से अर्जित करता है। इस अवस्था का प्रसार क्षेत्र जन्म से दो वर्ष तक होता है। बालक के जन्म के समय केवल सहज क्रियाएँ ही पायी जाती है। बालक के विचार एवं कल्पना शक्ति का विकास दो वर्ष की आयु समाप्ति तक हो जाता है। इस अवस्था में बालक में वस्तु बोध वकसित होता है।

ख– पूर्व–संक्रियात्मक अवस्था –संज्ञानात्मक विकास की यह दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था है जिसका प्रसार क्षेत्र दो वर्ष से लेकर छः वर्ष तक होता है। इस अवस्था का बालक स्वकेन्द्रित एवं स्वार्थी न होकर दूसरों के सम्पर्क से ज्ञानार्जन करता है। सबसे पहले प्रतीकात्मक विचार इसी अवस्था में बालक में उत्पन्न होता है। बालक खेल, चित्र निर्माण एवं भाषा व वाणी के माध्यम से उद्दीपक जगत के सम्बन्ध में अपने ज्ञान को बडाता है। इस अवस्था का बालक तार्किक चिन्तन नही कर पाता और कार्यकारण सम्बन्धों को भी नही जानता है।

उदाहरण– बालक यह तो जानने लगता है 15 अगस्त को स्वतंत्रता दिवस मनाया जाता है। किन्तु यह 15 अगस्त को ही क्यों मनाया जाता है, यह वह नही जानता है। जिसके कारण बालक के निर्णय गलत हो जाते है। यह अवस्था अतार्किक चिन्तन की अवस्था होती है। इस अवस्था का बालक वाह्य विचारों को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

<u>उत्तर बाल्यावस्था में संज्ञानात्मक विकास</u>

ग–स्थूल संक्रियात्मक अवस्था – इस अवस्था का प्रसार क्षेत्र 7 से 12 वर्ष होता है। यह द्वितीय अवस्था से अधिक विकसित संज्ञान की अवस्था होती है। इस अवस्था में बालक तार्किक चिन्तन करने लग जाता है। अब बालक में दो वस्तुओं या घटनाओं के बीच कार्यकारण सम्बन्ध, समानता एवं असमानता की समझ विकसित हो जाती है। इस अवस्थाा के बालकों में जिन प्रमुख योग्यताओं का विकास होता है उन्हें पॉचों वर्गो में विभक्त किया गया है–

- **क. संरक्षण**– जब कोई पदार्थ किसी रूप में परिवर्तित हो जाता है उसके बाद भी भार, आयतन, मात्रा, एवं संख्या की दृष्टि से समान या अपरिवर्तनीय रहता है तो इसे संरक्षण की क्षमता कहा जाता है। संरक्षण क्षमता का विकास संज्ञानात्मक

विकास की पूर्व संक्रियात्मक अवस्था की अपेक्षा स्थूल संक्रियात्मक अवस्था के बालकों में होता है।

ख. **संख्या बोध**– पियाजे के अनुसार स्थूल संक्रियात्मक अवस्था के बालकों में संख्या बोध की योग्यता विकसित हो जाती है। इस अवस्था का बालक विद्यालय में गणित की पढ़ाई प्रारम्भ कर देता है, जिसके कारण उसमें संख्यात्मक सम्प्रत्ययों का विकास होने लगता है। बालक किसी स्थान विशेष में रखी गयी वस्तुओं को गिन सकता है, अपने कपडो, पैसो, कॉपी एवं किताबों की सही संख्या बार–बार गिनकर जान सकता है। संख्याबोध की क्षमता के विकास से बालक के व्यावहारिक जीवन में अधिक सहायता मिलती है।

ग. **कमानुसार व्यवस्थापन**–इस अवस्था के बालकों में वस्तुओं को कमानुसार व्यवस्थित करने की योग्यता विकसित हो जाती है।

घ. **वर्गीकरण** – इस अवस्था के बालकों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को अलग–अलग वर्गीकृत करने की क्षमता विकसित हो जाती है। जैसे कौन सी वस्तु मीठी है, कौन सी नहीं। कौन अधिक व कौन सी कम मीठी है। इसी प्रकार विभिन्न आकृतियों एवं आकारों के आधार पर भी वस्तुओं को अलग–अलग वर्गो में बालक वर्गीकृत कर सकता है।

ड. **पारस्परिक सम्बन्ध की क्षमता**–स्थूल संक्रियात्मक अवस्था में बालक विभिन्न वस्तुओ, उद्दीपकों व घटनाओं के आपसी सम्बन्धों को ठीक तरह से समझने लगता है।

उदाहरण.– दो प्रकार के प्रकाशों में कौर सा प्रकाश अधिक तेज है और कौन सा कम, तथा दो रेखाओं मे कौन सी रेखा बडी व कौन सी छोटी है। 7–12 वर्ष का बालक इस प्रकार का अन्तर सरलता से कर लेता है।

5.5 सारांश

1. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक में आकार, आकृति, रंग, दूरी, गहराई, भार आदि का प्रत्यक्षकरण का विकास होता है।
2. प्रत्यक्षीकरण एक मानसिक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा बालक वाहय वातावरण की घटनाओं को बारे में ज्ञान प्राप्त करता है।
3. भाषा आपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने कीयोग्यता है।
4. पूर्व बाल्यावस्था के प्रारम्भ में बालक 400 शब्दों को भण्डारण एवं उत्तरबाल्यावस्था में करीब 50000 शब्दों का भण्डारण कर सकता है।
5. संज्ञान से तात्पर्य ज्ञान प्राप्त करने से है। इसके अन्तर्गत चिन्तन, स्मरण, अवधान, कल्पना, अधिगम आदि मानसिक प्रक्रियायें सम्मिलित होती है।
6. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक में संगठन, अनुकूलन आदि संप्रत्यय संज्ञानात्मक विकास में शामिल होते है।

7. पियाजे के अनुसार पूर्व बाल्यावस्था के संज्ञानात्मक विकास में 2 अवस्थायें होती है 1. संवेदी पेशीय अवस्था 2. पूर्व संक्रियात्मक अवस्था
8. उत्तर बाल्यावस्था के संज्ञानात्मक विकास में केवल एक अवस्था होती है। स्थूल संक्रियात्मक अवस्था इसके अन्तर्गत बालक में संरक्षण, संख्याबोध, क्रमानुसार व्यवस्थापक, वर्गीकरण और पारस्परिक सम्बन्ध की क्षमता का विकास होता है।

5.6 बोध प्रश्न :–

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही/गलत में दीजियें

1. ज्ञानेन्द्रियां बालक में जन्म के बाद विकसित होती हैं
2. प्रत्यक्षीकरण एक सक्रीय मानसिक प्रक्रिया है।
3. प्रत्यक्षीकरण में उद्दीपक संगठन नहीं पाया जाता है।
4. स्थिरता प्रत्यक्षीकरण का एक सम्प्रत्यय
5. हकलाना भाषा विकास की अवस्था है।
6. तुतलाने से बालक में आत्म विष्वास बढ़ता है।
7. 5 वर्ष का बालक 2000 शब्दों को सीख सकता है।
8. वाक्य निर्माण की क्रिया 3– वर्ष में विकसित हो जाती है।
9. भाषा को शैली एवं विचारों का परिघान कहा जाता हैं
10. भाषा का बुद्धि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।
11. संज्ञान एक प्रकार की सक्रिय प्रक्रिया है।
12. संज्ञान मस्तिष्क के थैलेमस से सम्बन्धित होता है।
13. जियाजे द्वारा विकास की अवस्थओं में स्थूल संक्रियात्मक अवस्था का प्रसार 5–15 वर्ष होता है।
14. संवेदी पेशीय अवस्था संज्ञानात्मक विकास की प्रथम अवस्था है।
15. बालक में ''तार्किक चिन्तन'' की क्षमता का विकास पूर्व संक्रियात्मक अवस्था में होता है।

5.7 निम्न पर टिप्पणी लिखिये –

1. प्रत्यक्षीकरण की विशेषताए
2. प्रत्यक्षीकरण के विकास का महत्व
3. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में शब्द भण्डारण क्षमता
4. भाषा विकास का महत्व
5. संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं की विशेषतायें

बोध प्रश्नों के उत्तर :–

1. असत्य 2. सत्य 3. असत्य 4. सत्य 5. असत्य 6. असत्य 7. सत्य

7. सत्य 9. सत्य 10. असत्य 11. सत्य 12. असत्य 13. असत्य

14. सत्य 15. असत्य

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक के भाषा विकास को समझाइये।
2. पूर्व एवं उत्तर बाल्यावस्था में बालक के संज्ञानात्मक विकास को समझाइये।

5.9 संन्दर्भ पुस्तकें–

1. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, जितेन्द्र कुमार उपाध्याय, राजेन्द्र सिंह– विकासात्मक मनोविज्ञान–मोतीलाल बनारसी दास।
2. सुरेष भटनागर – बाल विकास एवं बाल मनोविज्ञान– लायल बुक डिपो, मेरठ।
3. डा0 रामजी श्रीवास्तव, डा0काजी गौस आलम– मोतीलाल बनारसी दास।
4. भाई योगेन्द्रजीत– मानव विकास का मनोविज्ञान – विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
5. डा0 प्रीती वर्मा, डा0डी0एन0 श्रीवास्तव– बाल मनोविज्ञान, बाल विकास– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
6. डा0 अनिल कुमार–विकासात्मक मनोविज्ञान– डिस्कवरी पब्लिषिंग हाउस प्राइवेट लि0, नई दिल्ली।

इकाई 6. प्रारम्भिक वर्षों में सम्बंध - संलग्नता सिद्धांतएवं बच्चे के पालन का अभ्यास(Relationship in Early years: Attachment Theory and Child Rearing Practices)

इकाई

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में सम्बन्ध

- 6.3.1 बचपनावस्था में सम्बन्ध
- 6.3.2 पूर्व बाल्यावस्था में सम्बन्ध
- 6.3.3 उत्तर बाल्यावस्था में सम्बन्ध

6.4 लगाव सिद्धान्त

6.5 बाल पोषण–प्रशिक्षण

- 6.5.1 प्रभुत्वशाली
- 6.5.2 प्रजातांत्रिक
- 6.5.3 उदारतावादी

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1—प्रस्तावनाः—

बालक का सामाजिक संसार जैसे—जैसे बढ़ता जाता है वैसे—वैसे परिवार के बाहर के सदस्यों के प्रति बालक की रुचि का विकास होता है। बालक का जन्म क्रम भी परिवार के बाहर के व्यक्तियों के प्रति समायोजन को प्रभावित करता है। बालक का सम्बन्ध क्रमशः परिवार, पाठशाला, समाज और संस्कृति के साथ सबसे पहले होता है। बालकों के व्यवहार, आचार तथा विचार को परिवार अपनी मान्यताओं के अनुरुप संवारता है। साथ की छोटे बच्चे परिवार के बड़े बच्चों या वरिष्ठ सदस्यों के साथ तादात्मीकरण एवं अनुकरण करके अपना अलग व्यक्तित्व बनाने का प्रयास करते हैं परिवार में रहकर बच्चे विभिन्न प्रकार के अनुभव एवं प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। पारिवारिक वातावरण परिवार की संरचना, परिवार की सामाजिक आर्थिक स्थिति, माता पिता का अपने बच्चों के साथ सम्बन्ध के कारण एक परिवार में विकसित बच्चा, दूसरे परिवार में विकसित बालक से भिन्न दिखाई देता है।

जन्म के पश्चात् काफी समय तक बच्चा पूर्णता प्रौढ़ो पर निर्भर रहता है, उसे खिलाने—पिलाने तथा उनके अन्य कार्यों के लिये परिवार के वयस्क सदस्यों को काफी ध्यान देना पड़ता है। बालक को अपने माता पिता व माता पिता को अपने बच्चे से लगाव होता है, जो लोग उसकी आवश्यकता को पूरा करते हैं।, उसकी अनुक्रियाओं पर ध्यान देते हैं, बच्चा उसके प्रति लगाव व्यवहार प्रदर्शित करता है। लगाव वाले व्यक्ति की उपस्थिति में बच्चा सुख का अनुभव करता है।बालकों के विकास में प्रारम्भिक सामाजिक अनुभवों का विशेष महत्व है। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में बालकों को जैसा अनुभव होता है और वे जिन परिस्थितियों में रहते हैं उनका उन बालकों पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

बालकों के व्यवहार, आचार—विचार परिवार अपनी मान्यताओं के अनुरुप संवारता है। इसके अतिरिक्त छोटे बच्चे परिवार के वरिष्ठ सदस्यों के साथ तादात्मीकरण (Identification) एवं अनुकरण (Imitation) करके अपना अलग अस्तित्व बनाने का प्रयास करते हैं। परिवार में रहकर बच्चे विभिन्न प्रकार के अनुभव एवं प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, जो उनके व्यक्तित्व के प्रतिमानों निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं, यदि बच्चा माता—पिता के सम्पर्क तथा प्रभाव में नही है तो बालकों में आत्म नियन्त्रण का अभाव हो जाता है। बालक का अपने माता—पिता के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व में स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। परिवार में पुरुष, स्त्री और बच्चों में जो सम्बन्ध होते हैं, उन्हें पारिवारिक सम्बन्ध कहते हैं अभिभावक बालक सम्बन्ध भी पारिवारिक सम्बन्धों का एक भाग है। अभिभावक बालक सम्बन्ध इसलिये भी महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि ये सम्बन्ध संवेगात्मक रंगों से रंगे होते हैं। अभिभावक बालक सम्बन्ध अच्छे रहें, इसके लिये आवश्यक है, कि माता पिता के सम्बन्ध मधुर हो।

6.2—उद्देश्यः—

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप—

1. जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में परिवार, समाज, संस्कृति के सम्बन्धों के बारे में जान सकेंगे।
2. बालकों में लगाव सिद्धान्त के बारे में जान सकेगें।
3. बालकों के पालन—पोषण की शिक्षा के बारे में जान सकेगें।
4. बालक परिवार में किस तरह से समायोजन करेगा, के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

6.3—जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में सम्बन्धः—

जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में बालक अपने माता पिता के साथ परिवार के साथ (परिवार के अन्य सदस्यों के साथ) पास पड़ोस,विद्यालय एवं सामाजिक सांस्कृतिक कारकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करता है, और इन सम्बन्धों का प्रभाव बालक के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता है। परिवार में समय समय पर आने वाले रिश्तेदार भी बालक से पारिवारिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं, रिश्तेदारों के कारण पारिवारिक सम्बन्धों में मनमुटाव उस समय उत्पन्न होता है, जब वह बच्चों की आलोचना करते हैं।या अपना प्रभुत्व उन पर जमाना चाहते हैं। यदि परिवार के अन्य सदस्य बालक के साथ स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखते हैं उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने मे सहायता करते हैं, उसे अच्छी—अच्छी बातें सिखाते हैं,

परिवार के अनेक सदस्यों भाई—बहन, दादा—दादी, चाचा—चाची आदि में बालक पर उस सदस्य का प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है जिस सदस्य के सम्पर्क में बालक सर्वाधिक रहता है।

6.3.1—<u>बचपनावस्था में सम्बन्ध (दो सप्ताह से दो वर्ष तक):—</u>

बालक की जीवनभर की अभिवृत्तियों और व्यवहार के ऊपर उसके प्रारम्भिक अनुभवों का प्रभाव सर्वाधिक होता है, क्योंकि बचपनावस्था की शुरुआत में वह घर तक ही सीमित होता है, इसलिये परिवार के लोगों से उसके सम्बन्धो का यह निर्धारित करने में, कि वह किस प्रकार का व्यक्ति होगा, मुख्य हाथ होता है। बालक के माता पिता, भाई बहन, दादा दादी,तथा अन्य सम्बन्धी जिनका उसके जीवन के उन निर्माणात्मक वर्षों में प्रायः निरन्तर सम्पर्क रहता है लोगों वस्तुओं और सामान्य जीवन के प्रति उसकी अभिवृत्तियों के लिये प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं। जैसे—जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है, उसका दायरा बढ़ता जाता है, उसके प्रतिमान बदलते जाते हैं, जीवन के प्रथम वर्ष में बालक के व्यवहार पर माता के व्यवहार का किसी अन्य पर्यावरणीय कारकों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है।

माता पिता और बच्चे के सम्बन्ध का जीवन के प्रारम्भिक वर्षों बहुत अधिक महत्व होता है, उदाहरण के लिये–जो बच्चे अपनी मां से अलग हो गये हो, और उन्हें किसी संस्था में रख दिया गया हो, जहां बच्चे प्यार करने और किये जाने के अवसर से वंचित हो जाता है, तब उसका सामान्य शारीरिक और मानसिक विकास तथा भाषा और सामाजिकीकरण का भी विकास धीमा हो जाता है जो बालक स्नेह प्रकट करने के सामान्य अवसरों से वंचित हो जाता है वह चुप, उदासीन, और दूसरों के प्रति अनुक्रियाशील हो जाता है।

रिब्बल (Ribble) ने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में माता पिता और बच्चे के सम्बन्धों के प्रतिकूल होने के गम्भीर दुष्परिणाम बताते हुये कहा है कि ''शिशु का माता पिता के सम्बन्ध प्रतिकूल होने से उसके अन्दर ऐसी प्रतिक्रियाएं पैदा हो जाती हैं, जो बढ़ते–बढ़ते प्रौढ़ावस्था में व्यक्तित्व की विकृतियों का रुप ले सकती है।'' इसके बावजूद बाद के जीवन में अनुकूल अनुभव होने से इस सम्भावना का प्रतिकार भी हो सकता है। यदि व्यक्ति को शैशवावस्था में स्नेह से वंचित भी होना पड़ा हो, या अपने माता पिता को किसी और बात से कष्ट भी उठाना पड़ा हो, तब भी बाद में मिलने वाला संतोष उसकी क्षतिपूर्ति (Compansation)कर सकता है। इसके विपरीत बचपनावस्था के संतोषप्रद अनुभवों का इस बात के लिये पर्याप्त होना आवश्यक नहीं है, कि वे माता पिता और बालक के सम्बन्धों में पाये जाने वाले प्रतिकूल कारकों की अथवा बालक के बड़े होने पर उसे जिस आर्थिक अभाव का सामना करना पड़ेगा, उसकी क्षतिपूर्ति कर सके। यद्यपि ये सच है कि अभिवृत्तियों, व्यवहार के प्रकारों और व्यक्त्वि के ढांचे की नींव बचपनावस्था में पड़ चुकी होती है, लेकिन बचपनावस्था की और बाद की घटनाओं का जीवन के शुरु के वर्षो में अस्थाई रुप से निर्मित चरित्र के ढांचे को दृढ़ करने या बदलने में बहुत महत्व होता है।

<u>माता–पिता और वत्स के सम्बन्धों में परिवर्तनः–</u>

माता पिता और वत्स का सम्बन्ध स्थिर नही रहता है, बल्कि वत्स की निस्सहायता और परनिर्भरता (dependency) की व्यवस्था से आत्म निर्भरता (self dependency) की अवस्था की ओर बढ़ने के साथ बदलता रहता है। इस प्रकार सम्बन्ध परिवर्तन से माता पिता की अभिवृत्तियां भी बदल जाती हैं। जो कि पहले स्वीकारात्मक होती है, फिर अस्वीकारात्मक और अन्त में फिर स्वीकारात्मक। माता पिता की अभिवृत्ति का स्वीकारात्मक या अस्वीकारात्मक होना बहुत कुछ वत्स की बदलती हुयी विशेषताओं पर निर्भर होता है। वत्स ज्यों–ज्यों अधिक बड़ा और स्वतंत्र होता जाता है त्यों–त्यों माता पिता के स्नेह में कमी और नियन्त्रण बढ़ती जाती है। जब माता पिता की अभिवृत्ति अस्वीकारात्मक होती हैः– और ऐसा बहुत कम होता है केवल तभी वत्स को अपने माता पिता और परिवार के अन्य लोगों के साथ स्नेह के अलावा किसी और चीज का अनुभव होता है। यदि वह पहला बच्चा हो, तो उसे दूसरे या बाद के बच्चों की अपेक्षा माता पिता से स्नेह के साथ साथ अधिक ध्यान (Attention) और संग भी मिलता है।

पहले नौ से बारह मास तक किसी व्यक्ति के वत्स की निरन्तर देखरेख की आवश्यकता होती है ताकि सुरक्षा की भावना पैदा हो सक। इसके लिये मां पर अधिक भरोसा किया जा सकता है। इस अवस्था में माता के संरक्षण से वंचित हो जाने पर वत्स के शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास के लिये एक बहुत की गम्भीर बात होती है। (Mead:मीड) रिब्बल ने इस बात पर जोर देकर कहा कि, '' वत्स की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि, माता पिता द्वारा समझ बूझकर उसकी निरन्तर देख रेख।''माता ही वत्स की खेल की सबसे बड़ी साथी होती है। और माता उसकी शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति करती है इसलिये वत्सावस्था के अन्त में वत्स का माता की ओर अधिक झुकाव प्रकट होने लगता है। ऐसे पिता जो वत्स के साथ अपना अधिक समय बिताते हैं, उसके लालन–पालन सम्बन्धी दैनिक कार्यो में माता का हाथ बंटाता है, तथा वत्स के साथ खेलने में पूरा ध्यान देता है, वत्स के स्नेह का उतना ही पात्र होता है, जितनी मात्रा।

बचपनावस्था में बालक का वातावरण केवल परिवार तक ही सीमित होता है, अतः माता पिता और बालक के सम्बन्धों का प्रभाव उसके विकास पर महत्वपूर्ण ढंग से पड़ता है। अनेक अध्ययनों (J. Bowlby 1956, D.B. Gardher 1961) में देखा गया है कि यदि बालक को इस अवस्था में माता पिता से स्नेह प्राप्त नही होता है तो वह शान्त प्रकृति का हो जाता है, यहां तक कि वह दूसरों के मुस्कान का भी कोई जवाब नहीं देता है, प्रत्येक बालक लगभग डेढ़ वर्ष की अवस्था तक मां की अथवा मां के समान किसी अन्य व्यक्ति की सहायता चाहता है। इस प्रकार की सहायता से उसमें सुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है, बड़े परिवारों में मां के अधिक व्यस्त रहने के कारण बालक और मां का उतना सम्बन्ध नही रह पाता है, जितना कि छोटे परिवारों में होता है। बालकों के व्यक्तित्व के विकास पर मां के वचन (Deprivation) का बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ता है। बालक अभिभावक सम्बन्ध यदि अनुकूल नहीं है, तो बालक के बचपनावस्था के सुखद अनुभव भी इन सम्बन्धों को अनुकूल नहीं बना पाते हैं।

इस अवस्था में माता पिता और बालक का सम्बन्ध उस समय परिवर्तित हो जाता है, जब बालक असहाय से अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र हो जाता हैं अभिभावकों का बालकों के प्रति कैसा व्यवहार और सम्बन्ध होगा, यह बहुत कुछ बालकों के व्यवहार प्रतिमानों पर निर्भर करता है, कि माता पिता बालक का तिरस्कार करेगें या उसे गले लगायेगें। यदि बालक माता पिता की प्रत्याशाओं का अनुभव होता है तब निश्चित रुप से बालक माता पिता व बालक के सम्बन्ध मधुर होते है। हारलॉक 1974 ने अपने अध्ययन के दौरान पाया, कि बालक यदि माता पिता पर अधिक आश्रित रहता है, तो भी माता पिता उससे प्रसन्न नहीं रहता है फलस्वरुप बालक और माता पिता के सम्बन्ध तनवापूर्ण हो जाते हैं। परिवार में जब नए बालक का जन्म होता है तब माता पिता का ध्यान नये बालक की ओर अधिक और बड़े बालक की ओर कम हो जाता है। फलस्वरुप माता पिता और बालक के सम्बन्ध बिगड़ जाता है। इस अवस्था में बालक पर माता के व्यवहार का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है।

6.3.2—पूर्व बाल्यावस्था में सम्बन्ध(दो वर्ष से छः वर्ष तक):—

इस अवस्था में बालक का कुछ समय छोड़कर (पास पड़ोस या विद्यालय) प्रायः सारे समय घर के अन्दर ही रहता है। छोटे बालक की लोगों, चीजों और सामान्य जीवन के प्रति जो अभिवृत्तियां बनती हैं, उनका रुप उसके घरेलू जीवन से निर्धारित होता है, यद्यपि बालके को समायोजन को अच्छा बुरा बनाने में बाल प्रशिक्षण की किसी एक विधि का हाथ नही होता है जैसे जो बालक लोकतंत्रीय परिवार में पलता बढ़ता है वह सत्ता वादी परिवार में पले बढ़े बालक की अपेक्षा बाहरी लोगों से सामान्यतया अधिक अच्छा समायोजन करता है, जो बालक के समायोजन की सफलता में सहायक होगें। छोटे बालक दूसरों के साथ बहुत कुछ वैसा ही व्यवहार प्रकार प्रदर्शित करते हैं जिसे वे अपने परिवार के लोगों में देख चुके होते है।(Sears 1951)

इस आयु में बालक को परिवार में अपनी स्थिति का बोध होने लगता है, यदि वह पहला बच्चा हुआ तो परिवार में एक या दो नये बच्चों के जन्म के बाद उसके अन्दर असुरक्षा की भावना पैदा हो सकती है, न केवल उससे पहले से अधिक आशा की जाती है, बल्कि उसे यह भी अनुभव होता है कि नया बच्चा माता पिता के प्यार से उसका हिस्सा छीन रहा है। यदि बच्चा दूसरा या बाद का है, तो सम्भवतया वह सबके आकर्षण का केन्द्र बना रहेगा। इससे अधिक सम्भावना इस बात की रहेगी कि उसके बड़े सहोदर उसकी उपस्थिति से रुष्ट रहेगें। लेकिन बहुत शीघ्र ही बालक अपने परिवार में निशचित भूमिका निभाना सीख लेता है। जो उसके लिंग परिवार में उसके जन्म क्रम, और उसके सहोदरों के आयु के अन्तर पर निर्भर होती है।

दूसरे नम्बर पर पैदा होने वाले बालके विशेष रुप से जिसका बड़ा सहोदर भाई होता है, बड़े सहोदर के साथ बराबर—बराबर चलने की कोशिश करते हैं। और माता के प्यार के लिये उससे प्रतियोगिता करते है।एकलौता बालक माता पिता को अपना आदर्श मानता है, और फलतः प्रायः सहोदरों वाले बालकों की अपेक्षा अपनी आयु के हिसाब से अधिक परिपक्व होता है।

बालक के प्रति माता पिता अभिवृत्तियो में पूर्व बाल्यावस्था में परिवर्तन हो जाते हैं। अब वह उतना निस्सहाय, कोमल और गुदगुदा नही रहता, जितना वत्सावस्था में था। अब वह विद्रोही, स्वाग्रही और शरारती बन जाता है। हर चीज को जानने की इच्छा रखता है बालक चाहता है कि उसकी ओर ध्यान दिया जाये और यदि उसका मन नही होता तो वह कोई भी काम जिसे उसे करने को कहा जायेगा नही करेगा। माता पिता की इस बारे में निशचित धारणाएं होती हैं कि अच्छे लड़के को कैसा होना चाहिये और लड़के लड़कियों का उचित व्यवहार क्या होता है। चूंकि छोटे बालक माता पिता की आशाओं के अनुसार बहुत कम निकलते हैं, इसलिये अब माता पिता उनसे उतना प्यार नही करते जितना वत्सावस्था में करते थे और अब वे अनुशासन पर ज्यादा ध्यान देते है।

परिवार का वातावरण परिवार की रचना, परिवार की सामाजिक आर्थिक दशा तथा माता पिता का बच्चे के साथ सम्बन्धों की दृष्टि से परस्पर भिन्नता पाई जाती है, इसलिये

एक परिवार में विकसित बालक दूसरे परिवार में विकसित बालक से भिन्न दिखाई देता है। जिन परिवारों का आन्तरिक वातावरण स्वस्थ नहीं होता है ऐसे परिवार में विकसित बालक समाज का एक अच्छा सदस्य नही बन पाता है। उचित– अनुचित, नैतिक–अनैतिक, सही–गलत, अच्छा–बुरा, आदि मान्यताओं की प्रारम्भिक शिक्षा परिवार से ही मिलती है। अन्य संस्थाओं की तुलना में बालकों का नियन्त्रण अधिक होता है।

पिता की अपेक्षा माता छोटे बालक के साथ अधिक समय व्यतीत करती है और चूंकि पिता की अपेक्षा माता छोटे बालको के शरारती व्यवहार को प्रायः अधिक अच्छी तरह समझती है, इसलिये छोटे बालक पिता की अपेक्षा आमतौर पर माता को ही अधिक चाहते हैं लड़का हो या लड़की दोनों ही पिता की अपेक्षा इस उम्र में माता को अधिक पसन्द करते हैं लेकिन पूर्व बाल्यावस्था में माता पिता को अधिक प्यार करने वालों में लड़कियां अधिक और लड़के कम होते हैं इसका मुख्य कारण कि पिता लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के प्रति अधिक सहनशील होता है। जब मां डाटती है या मारती है तब लड़कें लड़कियां दोनो ही पिता को अधिक पसन्द करते हैं जो पिता बालक से थोड़े या बहुंत समय के लिये दूर रहता है वह उस पिता की अपेक्षा जो हर समय उसके साथ रहता है बालक से अधिक आशा रखता है इसके फलस्वरुप वह बालक उसके व्यवहार में और अधिक दोष देखता है जिससे बालक उससे दूर–दूर रहने लगता है। और प्यार के लिये माता की ओर अधिक झुकता है।(Stolz 1954)

माता पिता का बालक के साथ सम्बन्धों में परिवर्तन प्रारम्भिक बाल्यावस्था में तेजी से होता है। इस अवस्था में बालक विद्रोही, शैतान, हठ करने वाला और दूसरों का ध्यान आकर्षित करने वाला होता है। वह इस अवस्था में पहले की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र हो जाता है। उसके माता पिता को इस अवस्था में उसकी देखभाल के लिये अधिक समय नही देना पड़ता है। अनेक अध्ययनों के दौरान यह पाया गया है कि बालक इस अवस्था में भी चाहता है कि माता पिता उसकी ओर ध्यान दें जब माता पिता बालक की प्रत्याशाओं के अनुसार व्यवहार नही करते है तब माता पिता और बालक के सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं (E.S. Boll 1966, T.T. Sears & E.E. Macoby 1967) इस अवस्था में माता पिता और बालक सम्बन्ध परिवर्तित होने के मुख्य कारण है–

1. <u>बालक में परिवर्तन–(Change in the Child)</u>प्रारम्भिक बाल्यावस्था में बच्चे विद्रोही, शैतान, हठी, दूसरों का ध्यान आकर्षित करने वाला हो जाता है उससे यदि कुछ करने के लिये कहा जाता है तो वह मना करता है बालक मे ये परिवर्तन माता पिता और बालक सम्बन्धों को ऋणात्मक दिशा में प्रभावित करते है।

2. <u>अभिभावक वरीयता–(Parental Preference)</u> प्रायः इस अवस्था में बच्चे अभिभावक के प्रति वरीयता प्रदर्शित करने लग जाते हैं बहुधा बच्चे मां को वरीयता देते हैं मां को वरीयता देने का मुख्य कारण यह है कि मां बालक के साथ अधिक समय व्यतीत करती है।

3. <u>अच्छे बालक का प्रत्यय–(Concept of a good Child)</u>

माता पिता की यह प्रत्याशा होती है कि मेरा बच्चा अमुक प्रकार का होगा। आयु बढ़ने के साथ साा़थ बालक यदि माता पिता की अभिवृत्तियों के अनुकूल नहीं बना पाता है तो माता पिता को ठेस पहुंचती है फलस्वरुप माता पिता और बालक के सम्बन्ध बिगड़ जाते है।

4. <u>स्वतंत्रता–(Independence)</u>बालक इस अवस्था तक काफी कुछ आत्म निर्भर बन जाता है माता पिता उसकी देखभाल कम कर देते हैं। लेकिन बालक उनकी फिर भी सहायता चाहता है। प्रायः देखा गया है कि प्रजातांत्रिक वातावरण में पलने वाले बच्चों का बाहर के व्यक्तियों के साथ समायोजन अच्छा होता है, और जो बच्चे प्रभुत्वशाली वातावरण में पलते हैं उनका समायोजन माता पिता के साथ सामान्य होता है।

इस अवस्था में बालक पर परिवार के अतिरिक्त स्कूल तथा मित्र मण्डली सगे सम्बन्धियों का भी प्रभाव पड़ने लगता है। परिवार में रहकर बच्चे विभिन्न प्रकार के अनुभव एवं प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं जो बालक के व्यक्तित्व प्रतिमानों को निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाते है।

6.3.3–<u>उत्तर बाल्यावस्था में सम्बन्ध(छः वर्ष से दस वर्ष तक):–</u>

बालक का परिवार के लोगों के साथ सम्बन्ध इस पर निर्भर करता है कि बालक और माता पिता के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है इस सम्बन्ध पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि माता पिता का व्यक्तित्व किस प्रकार का है, बालक के प्रति तथा अपने मात्रोचित या पित्रोचित कार्य के प्रति उसकी क्या धारणाएं हैं कुसमायोजित माता पिता की अपेक्षा सुसमायोजित माता पिता के कारण घर का पर्यावरण अधिक अच्छा होता है और सम्बन्ध अपने बच्चों से अधिक अच्छे होते हैं। (Rexford, 1957) जो माता पिता अपने बच्चों के बारे में ऊंची और प्रायः अवास्तविक महत्वाकांक्षाएं रखते हैं। (प्रायः मध्यम वर्गीय परिवार में) वे बच्चों के माता पिता की आशाओं के अनुसार बनने में असफल रहने पर उसके अन्दर असुरक्षित और अस्वीकृत होने की भावना पैदा करते हैं जिन माताओं ने मां बनने के खातिर अपना सफल व्यवसाय छोड़ दिया है वे अपने बच्चों से निष्पादन के उतने ही ऊंचे मानकों की आशा करती है, जितने की वे अपने व्यवसायिक जीवन करती थी। बालक के स्कूल प्रवेश के समय तक अधिकांश माता पिता उससे यह आशा करने लगते हैं कि वह अपनी चीजें संभालने की, घर के छोटे मोटे कार्यो में मदद करने की, समय पर सोने इत्यादि नित्य क्रियाओं को करने की जिम्मेदारियां खुद ले लेगा। बालक इन आशाओं के अनुसार चलेगा या नहीं यह अंशतः बालक के व्यक्तित्व पर इस बात पर निर्भर करेगां कि उसे जिम्मेदारियां लेने का कितना प्रशिक्षण पहले मिला है।

बालक को पहली बार परिवार की सामाजिक आर्थिक स्थिति के महत्व का पता चलता है जब वह अपने दोस्तों के घर जाता है और उसे अपने घर उनके घरों से तुलना करने का अवसर मिलता है तब यह जानकर कि उनके घर में अधिक नहीं तो कम से कम उतनी चीजें तो हैं ही जितनी उनके घरों में हैं उसे सन्तोष होता है। लेकिन यदि

उसे पता चलता है कि उसका घर दोस्तों के घर से कम अच्छा है तो वह असंतुष्ट और हीन हो जाता है परिवार की सामाजिक आर्थिक स्थिति और पिता के व्यवसाय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण पिता का व्यवसाय बालक का माता पिता से सम्बन्ध निर्धारित करने में बहुत महत्व की चीज बन जाता है बड़े बालक के लिये माता पिता के व्यवसाय का एक सांस्कृतिक अर्थ होता है जो उसे प्रतिष्ठा प्रदान करता है या उसे उसे वंचित करता है बालक के समवयस्क उसके बारे में जैसा भी महसूस करेगें। वह बालक की उस व्यवसाय के प्रति और अपने माता पिता के प्रति बनने वाली अभिवृत्ति में प्रतिबिम्बित होगा। माता के घर के बारे बालक की भावनायें अंशतः इस बात पर निर्भर होती है कि इससे उसके जीवन में कितनी कमी आती है और उसके समवयस्क उसके बारे मे क्या सोचते हैं।

परिवार में बालक जो भूमिका अपनाता है और सहोदरों से उसका जिस प्रकार को सम्बन्ध होता है वही घर के बाहर अपने समवस्यकों से उसके सम्बन्ध बनाने का आधार होगा और उसके व्यवहार के रुप को प्रभावित करेगा। प्रायः धारणा होती है कि यदि बालक परिवार में अनेक बालकों में से एक हुआ तो वह भाग्यशाली है और यदि वह इकलौता हुआ तो उसे दया का पात्र समझा जाता है इस धारणा के मूल में यह विश्वास है कि सहोदरों वाला बालक अन्य बालकों के अनुरुप होता है और सामाजिक बनना सीख लेता है जो कि इकलौते बालक के लिये सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त सहोदर बालक के खेल के साथी सर्वदा सुलभ होते हैं। अनेक अध्ययनों से ऐसा पता नहीं चलता है। कि वे सामाजिक समायोजन में पिछड़े होते हैं। सामाजिक स्वीकार्यता की दृष्टि से इकलौते बालक कई सहोदरो वाले परिवार के बालकों से आगे होते हैं। इसके अतिरिक्त बालक जो इकलौता नही है उस बालक की तुलना में, अपनी आयु की दृष्टि से प्रायः अधिक परिपक्व होता है और यह लक्षण अच्छे सामाजिक समायोजन में बहुत सहायक होता है इकलौता बालक कभी कभी अति संरक्षणशीलता का शिकार बन जाता है लेकिन वे उस मानसिक हानि से बच जाते हैं जो सहोदरों से प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या से होती है (Bossard. J.H.S., Parent and child 1953)

बड़ें परिवार का बालक शीघ्र ही परिवार के लोगों के बीच एक निशचित भूमिका सीख लेता है जो कि 'पर निर्भर' बालक की 'बिगड़े बालक' की या समर्थ बालक की हो सकती है। वह कौन सी भूमिका सीखेगा यह बहुत कुछ उसके जन्म क्रमांक से प्रभावित होता है। सबसे पहले पैदा होने वाले बालक से प्रायः यह आशा की जाती है कि वह अपने छोटे सहोदरों की देख रेख मे माता पिता का स्थानापन्न बनने का काम करे। बीच में पैदा होने वाले बालक की स्थिति प्रायः कमजोर होती है जिससे उसके लिये एक समस्याजनक परिस्थिति पैदा हो जाती है और वह उससे निपटने के लिये सबसे बड़े या सबसे छोटे सहोदर की बराबरी करने की कोशिश करता है। (J.K. Lasko, 1954) सबसे छोटे बालक के सामने अपने से छोटे सहोदर से प्रतियोगिता करने की समस्या तो नही होती, लेकिन वह प्रायः यह महसूस कर सकता है कि बड़े सहोदर उनकी उपेक्षा करते हैं, और उसे रुष्ट करते हैं अर्थात बालक के अपने सहोदरों से जो सम्बन्ध होते है वे न केवल उसके अहं सम्प्रत्यय को प्रभावित करते हैं बल्कि व्यवहार की ऐसी आदते भी

उसके अन्दर पैदा कर देते हैं जिन्हें वह अपने समवयस्कों के साथ होने वाले व्यवहार में प्रदर्शित करता है।

बाल्यावस्था की प्रगति के साथ पारिवारिक सम्बन्ध बिगड़ने लगते है। छोटा बालक प्यारा वश में रहने वाला निस्सहाय और पर निर्भर होता है, और वही बड़ा होकर लापरवाह, अशिष्ट और स्वतंत्र बन जाता है। तथा माता पिता के शासन को उतार फेंकने की कोशिश करता है। जब बड़े बालक की अभिवृत्ति माता पिता के प्रति बदल जाती है और उनके व्यवहार में परिवर्तन आ जाते हैं तब साथ ही माता पिता की अभिवृत्ति भी बालक के प्रति बदल जाती है उदाहरणार्थ के लियेः– माता पिता तीन या कम वर्ष के बालकों की अपेक्षा नौ वर्ष के बालक से कम लाड़ प्यार करते हैं उसके ऊपर अधिक कड़ा नियन्त्रण रखते हैं उसके अनुचित व्यवहार करने पर उसे दण्ड देते हैं (Baldwin-1945) यह परिवर्तन अंशतः इस कारण हो सकता है कि माता पिता को परिवार के छोटे बच्चों की देख रेख की ओर ध्यान देना होता है लेकिन इसका मूल कारण उनके शासन के विरुद्ध बड़े बालक का विद्रोह करना होता है। यदि बालक के दोस्तों का व्यवहार और अभिवृत्तियां माता पिता को उचित न लगती हो तो वे उनकी नुक्ताचीनी करते हैं इससे माता पिता और बालक के बीच की दूरी और भी बढ़ जाती है, बाल्यावस्था के अन्त तक अधिकांशतः बालक माता पिता के आदेश और सलाह के विरुद्ध आपत्ति करने लगते हैं तथा इनके बारे में वाद विवाद भी करने लगते हैं आयु वृद्धि के साथ माता पिता और बालक के सम्बन्धों कें परिवर्तन होता हैं।

उत्तर बाल्यावस्था में बालक का माता पिता के साथ संघर्ष तो चलता ही है साथ ही सहोदरो के साथ भी थोड़ा बहुत संघर्ष निरन्तर रुप से चलता ही रहता है। घर के बाहर बालक बालिकाओं में जो द्वेष भावना पैदा होता है वह घर में भी चला आता है। और भाई बहनों के बीच जो कि पूर्व बाल्यावस्था में भाई–बहन, भाई–भाई या बहन–बहन के सम्बन्धों की अपेक्षा प्रायः अधिक सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध रखते थे, कलह पैदा कर देता है बड़ी उम्र के भाई और बहनें विशेष रुप से यदि वे किशोर हुये तो बालक के अशिष्ट व्यवहार शोरगुल की आदत की नुक्ताचीनी करते हैं और वह स्वयं भी अपने छोटे सहोदरों पर धौंस जमाना, उन्हें चिढ़ाना मजाक उड़ाना या उनसे लड़ना झगड़ना तक पसन्द करता है छोटे सहोदरों के साथ ऐसे व्यवहार के बावजूद बालक की उनसे बड़े सहोदरों की अपेक्षा अच्छी नियती है सहोदरों के इन झगड़ों के फलस्वरुप घर में हर समय कोलाहल मचा रहता है। यदि माता पिता इसे रोकना चाहते हैं तो उन पर पक्षपात का आरोप लगाया जाता है फलस्वरुप बालक का माता पिता के प्रति असंतोष बढ़ जाता है, और उनके आपसी सम्बन्ध और भी तनावपूर्ण हो जाते हैं।

यदि बड़े बालकों को जिम्मेदारियां लेने का धीरे धीरे मौका दिया जाये तो परिवार का बोझ उठाने में उनसे बड़ी मदद मिलती है और एक समय ऐसा आता है कि वे अपने सहोदरों में रुचि लेते हैं और उनके प्रति सच्चा स्नेह दिखलाते हैं और वे अपने से छोटों की देख रेख में भी मदद करते है।

बालक की माता पिता के शासन से मुक्त होने की कोशिशों के बावजूद वह अब भी आपात के समय या नई परिस्थितियों में जब वह अकेला पकने में असमर्थता का अनुभव करता है, सहायता के लिये माता पिता पर निर्भर करता है। बालकों के

समस्यात्मक व्यवहार के प्रति पिता की अपेक्षा माता का रुख प्रायः अधिक सहनशील एवं समझदारी भरा होता है, इसलिये पिता पुत्र की अपेक्षा माता पुत्र का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ होता है, बालक यह महसूस करता है कि पिता की अपेक्षा माता उसकी योजनाओं और समस्याओं पर बात करने के लिये उसे समझने के लिये अधिक इच्छुक रहती है। बालक और बालिकाएं दोनों ही पिता की अपेक्षा माता को अधिक पसन्द करतें है।

प्रायः देखा गया है कि यदि बालक के साथ मां का व्यवहार प्रभुत्वशाली प्रकार का होता है, तब बालक के साथ मां के सम्बन्ध तनवापूर्ण होते हैं। यदि माता पिता द्वारा बालक की आलोचना की जाती है। तो वह माता पिता का कहना नहीं मानता है यदि बालक अभिभावक को अक्सर मारते पीटते हैं तो बालक झगड़ालू बन जाता है। यदि माता पिता बालक की समय–समय पर प्रशंसा करते है तब बालक का व्यवहार भी प्रशंसनीय बन जाता है जब माता पिता बालक के साथ शुद्ध ईमानदारीपूर्ण तथा सहनशीलता पूर्ण व्यवहार करते हैं तब बालक का व्यवहार भी क्रमशः न्यायपूर्ण सत्यपूर्ण और सहनशीलतापूर्ण होता है। उत्तर बाल्यावस्था में माता पिता और बालक के साथ सम्बन्ध बन भी सकते हैं। और बिगड़ भी सकते हैं इन सम्बन्धों को कई कारक प्रभावित करते हैं।

1. <u>माता पिता का व्यक्तित्व–(Personality of Parents)</u>

जो माता पिता अधिक समायोजित प्रकार के होते हैं वो अपने बच्चों के लिये एक अच्छा वातावरण प्रस्तुत करते हैं। माता पिता का व्यक्तित्व बालक के विकास को प्रभावित करता है। माता पिता का व्यवहार आचार विचार हाव–भाव का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

2. <u>अभिभावकों की प्रत्याशाएं–(Parental Expectations)</u>

जो माता पिता अपने बच्चों के लिये अधिक प्रत्याशा रखते हैं और बच्चे उनकी प्रत्याशा के अनुसार व्यवहार नहीं कर पाते हैं तो बच्चों में असुरक्षा की भावनाएं उत्पन्न हो जाती है। जब बच्चा लगभग छः सात वर्ष का हो जाता है तब बालक के माता पिता अपने इन बच्चो से यह आशा रखने लग जाते हैं कि वह अपनी वस्तुएं सम्भाल कर रखेगें। स्कूल समय पर जायेगें। समय से सोने जायेगें, समय पर उठेगें आदि। बच्चा माता पिता की आशाओं के अनुसार व्यवहार करेगा, या नहीं यह इस बात पर निर्भर करेगा, कि बालक को इस दिशा में किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जायेगा।

3. <u>सामाजिक आर्थिक स्तर–(Socio-Economic Status)</u>

जब बच्चा दूसरे के परिवार के पारिवारिक स्तर की तुलना अपने परिवार से करता है और इस तुलना में वह अपने परिवार के सामाजिक आर्थिक स्तर को निम्न स्तर का पाते हैं तो बच्चे का मन शिकायत और आलोचना से भर जाता है इस अवस्था में बालक और माता पिता सम्बन्धों के बिगड़ने की सम्भावना अधिक होती है।

4. <u>अभिभावकों का व्यवसाय–(Parental Occupations)</u>

माता पिता के व्यवसाय से बालकों की प्रतिष्ठा उनके समूह में बन भी सकती है और बिगड़ भी सकती है जब बालक के समूह में पिता के या मां के व्यवसाय को हीन दृष्टि से देखा जाता है तब बालक की पिता और माता के प्रति अभिवृत्ति बदल जाती है फलतः इस अवस्था में माता और पिता के साथ बालक के सम्बन्ध बिगड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है।

6.4–<u>लगाव सिद्धान्त (Attachment Theory):–</u>

जन्म के बाद बच्चे के मानसिक विकास पर प्रौढ़ों और बालकों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है परिवार के बड़े बूढ़े सदस्य कई दृष्टियों से बच्चों के विकास में सहायक होते हैं विशष रुप से वे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति और उनके कष्टों का निवारण करने का यथासम्भव प्रयास करते रहते हैं साथ ही वे बच्चों को सामाजिक अन्तःक्रिया के लिये अवसर भी प्रदान करते हैं। फलस्वरुप बच्चे अपनी देख रेख करने वाले व्यक्तियों के प्रति एक रागात्मक सम्बन्ध (Emotional Relationship) विकसित कर लेते हैं और इसी रागात्मक सम्बन्ध को लगाव की संज्ञा दी गई है। सामाजिक विकास क्रम में लगाव एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता है और बालक के व्यक्तित्व के विकास पर लगाव प्रकृति का बहुत प्रभाव पड़ता है।

लगाव की स्थापना और विकास में मुख्य रुप से दो प्रक्रियाएं पाई जाती है। पहली प्रक्रिया अन्तःक्रिया कही जाती है। दो या अधिक व्यक्तियों के बीच चलने वाली ऐसी पारस्परिक क्रियाएं जो एक दूसरे के लिये उद्दीपक का कार्य करती हैं अन्तःक्रियाएं कही जाती है। लगाव की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि बड़ों के संकेतों के प्रति बच्चें और बच्चों की अनुक्रियाओं के प्रति बड़े परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया प्रदर्शित करें। प्रायः देखा जाता है कि बड़ो की उपस्थिति में बच्चें प्रसन्नचित्त निर्भय एवं सन्तुष्ट रहते है। लगाव का सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर बच्चे के भीतर निम्न विशेषताएं देखी जाती हैं–

1. भूख, प्यास, थकान या अकेलेपन की परिस्थितियों मे बच्चा उन्हीं व्यक्तियों का साथ ढूंढता है जिसका साथ उसका लगाव होता है।
2. केवल वे व्यक्ति ही बच्चे को अधिक से अधिक मात्रा में आराम पहुंचा सकते हैं जिसके साथ बच्चे का लगाव या रागात्मक सम्बन्ध निर्मित हुआ रहता है।
3. जिन व्यक्तियों के साथ बच्चे लगाव विकसित कर लेते हैं उनकी उपस्थिति में उनके भीतर आत्म विश्वास की मात्रा बढ़ जाती है और वे निडर हो अपरिचित व्यक्तियों या वस्तुओं के साथ व्यवहृत होते है।

कोई बालक किसी व्यक्ति के साथ लगाव स्थापित करने में जो व्यवहार सामान्य रुप से प्रदर्शित करता है, से लगाव व्यवहार (Attachment Behaviour) कहा जाता है। उदाहरण के लियेः– बच्चा मां को देखता है मां को देख मुस्कुराता है, हंसता है, उसे छूता है, पकड़ता है, लिपटता है, और उसके सामने न होने पर रोता भी है, लगाव व्यवहार

किसी विकासशील बालक में उम्र के साथ साथ बदलता रहता है।1930 में जॉन बॉल्बी ने लंदन में बाल निर्देशन अस्पताल (Child Guidance Clinic) में मनोचिकित्सक के रुप में कार्य किया, वहां पर इन्होंने संवेगात्मक रुप से अस्थिर बच्चों के उपचार हेतु कार्य किया। बॉल्वी ने अपने अनुभवों के आधार पर सामाजिक, संवेगात्मक और संज्ञानात्मक विकास में माता के साथ उनके बच्चों के सम्बन्धों के महत्व को स्वीकार किया। ऐसा माना जाता है कि नवजात शिशु मां से अलग हो जाते है वो बाद में कुसमायोजन (Maladjustment) के शिकार हो जाते हैं। बॉल्वी ने इसे लगाव सिद्धान्त के रुप में प्रतिपादित किया। मनोविज्ञान में लगाव सिद्धान्त पर जॉन बॉल्वी ने सबसे पहले कार्य किया (1958) लगाव सिद्धान्त विकासात्मक मनोविज्ञान का एक प्रत्यय है, क्योंकि व्यक्तिगत विकास के सम्बन्ध में लगाव का विशेष महत्व है। बॉल्वी ने– मनुष्य के बीच स्थाई मनोवैज्ञानिक संयुक्तता के रुप में लगाव को परिभाषित किया। लगाव सिद्धान्त बहुत सारी अभिव्यक्तियों के साथ एक व्यापक विचार है। बहुत सारी अभिव्यक्तियां जो परिवर्तित होती रहती हैं, उन्हें देखकर इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। बोल्बी (Bowlby, 1969) ने बच्चे के लगाव व्यवहार का अध्ययन कर उसके विकास की अवस्थाओं का वर्णन किया है।

प्रारम्भ में तीन चार महीने में बच्चा किसी भी व्यक्ति के प्रति लगाव व्यवहार का प्रदर्शन करता है इस आयु के बच्चों में दूसरों द्वारा गोद उठा लिये जाने की प्रबल आवश्यकता होती है जो भी व्यक्ति बच्चे को गोद में उठाकर उसे चूमता है, प्यार करता है पुचकारता है बच्चे उसके प्रति स्नेह या लगाव प्रदर्शित करने लगते है किन्तु छः सात महीने की आयु में अधिकतर बच्चे लोगों की शक्लों को पहचानने लगते हैं और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों जैसे– माता पिता सगे भाई–बहन तथा सेवकों (Caretakers) के प्रति लगाव व्यवहार व्यक्त करते हैं। साथ ही वे अनजान व्यक्तियों से डरने भी लगते हैं। डेविडसन (Davidson 1979) के अनुसार यह व्यवहार लगभग एक वर्ष की अवस्था में दिखलाई पड़ने लगता है।

लगाव व्यवहार के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ उस समय आता है जब बच्चे का लगाव किसी एक विशिष्ट व्यक्ति से हटकर कई अन्य व्यक्तियों के साथ स्थापित होने लगता है बच्चा जब एक वर्ष पूरा कर लेता है तो धीरे धीरे वह कई व्यक्तियों जैसे– माता–पिता, भाई–बहन, दादा–दादी तथा परिवार और पड़ोस के अन्य सदस्यों के साथ भी हिल मिल जाता है और उनके सानिध्य में समय व्यतीत करता है। मैकाबी (Maccoby, 1972) ने अपने अध्ययन के दौरान पाया कि चार पांच साल के सयाने बालकों में धीरे धीरे स्वतंत्रता (Independence) का विकास प्रारम्भ हो जाता है और उनका लगाव परिवार के व्यक्तियों के साथ घटने लगता है। अब वे शैशवाकालीन लगाव व्यवहार का प्रदर्शन नही करते हैं। केवल भय या संकटकालीन परिस्थितियों में ही ये बालक मां बाप या सेवकों को ढूढ़ते हैं।परन्तु ये बात सच है कि प्रारम्भिक लगाव का भाव कभी पूरी तरह से नष्ट नही होता है।

6.5–बाल पोषण प्रशिक्षण :–

बालक के पारिवारिक सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करते हैं कि बालक का पालन पोषण किस विधि द्वारा किया जा रहा है और बालक पोषण विधियों को किस रुप में देखता है। (Sears) सीयर्स ने बालक के व्यक्तित्व विकास में शिशु पालन विधियों (Child rearing Practices) के महत्व प्रदर्शित करता है। अधिकांश संस्कृतियें में बच्चे के पालन पोषण को माता का उत्तरदायित्व माना जाता है। और माताएं विविध विधियों द्वारा बच्चों में वांछनीय व्यवहारों के उत्पन्न और दृढ़ करने का प्रयास करती है। बालक के साथ अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा मां अधिक समय व्यतीत करती है। मां के इस सानिध्य के कारण बालक बालिकाएं दोनों ही जटिल संवेगात्मक तथा सामाजिक परिस्थितियों में मां की सहायता ढूंढती हैं कुछ विचारकों का मानना है कि मां द्वारा बच्चे की अत्यधिक देख रेख उनके स्वस्थ विकास में बाधा पहुंचती है।

कुछ माता और पिता दोनों की समुचित मात्रा में बच्चे पर ध्यान नही दे पाते हैं क्योंकि वे अधिकांश समय घर के बाहर रहते हैं। कार्यरत माताओं (Working Mother) और कार्यमुक्त माताओं (Non-Working Mother) पर हुए अध्ययनों में पाया गया है कि पोषण सम्बन्धी मनोवृत्तियों (rearing attitudes) की दृष्टि से दोनों में अन्तर पाया जाता है। बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु माताओ ंको स्नेहमयी, ममतापूर्ण और सहनशील प्रकृति का होना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि जो माताएं स्वयं अपने बचपन में अधिक प्यार दुलार पाये हुये होती है वे अपने बच्चे से अधिक स्नेह करती हैं। बच्चों के पालन पोषण में एक विचित्र किन्तु आवश्यक तथ्य यह भी पाया जाता है। कि बहुत सीमाएं बालक और बालिकाओं के साथ समान रुप से कठोरता या उदारता नही प्रदर्शित करती लड़कों के साथ अधिक उदारता (Permissiveness) तथा लड़कियों के साथ अधिक पाबन्दी (Restrictiveness) बरती जाती है सीयर्स ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि माता द्वारा प्रयुक्त शिशु पालन विधियों का बालक की निर्भरता (dependency) और आक्रामकता aggressiveness) पर काफी प्रभाव पड़ता है। आक्रामकता व्यवहार के सन्दर्भ में भी माताएं प्रायः लड़कों के प्रति अधिक उदारता दिखलाती हैं।

उपरोक्त सभी तथ्यों का प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व विकास पर किसी न किसी रुप में अवश्य पड़ता है। लैण्डमार्क अध्ययन की हर पुस्तक में डायन बूमरिण्ड ने माता–पिता के निरीक्षण द्वारा बाल–पोषण प्रशिक्षण विधि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में स्कूल जाने से पहले बच्चों के साथ बातचीत की और निरीक्षण के दौरान उन्होंने दो बड़ी चीजें देखी पहला demandingness और दूसरा responsiveness कुछ माता–पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे अपने बराबर स्तर के लोगों कसे मिले जुल जबकि दूसरे माता–पिता बच्चों के व्यवहार में बहुत कम हस्तक्षेप करने की कोशिश करते हैं दूसरी दिशा हैं उत्तरदायित्व–कुछ माता–पिता बच्चों के उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं, वे उनके साथ खुलकर बातचीत करते हैं। जबकि कुछ दूसरे माता–पिता अनुउत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार निभाते हैं। डायना बूमरिण्ड (Boumrind)

कैलिर्फोनिया के बर्कले विश्व विद्यालय में एक नैदानिक और विकासात्मक मनोवैज्ञानिक के रुप में कार्य किया। इन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर चार तरह के शिशु पालन विधियों के बारे में बताया।

1. प्रभुत्वशाली विधि (**Autheritarian Method**)
2. अधिकारिक विधि (**Authoritative Method**)
3. उदारतावादी विधि (**Permissive Method**)
4. असम्मिलित विधि (Uninvolved)

बालक परिवार में किस तरह से समायोजन करेगा प्रारम्भिक वर्षों में उसे तीन तरह से प्रशिक्षण दिया जाता है–

6.5.1–<u>प्रभुत्वशाली विधि (**Autheritarian Method**)</u>

इस विधि में माता पिता बालक के साथ सख्ती का व्यवहार करते हैं और बालक को समय समय पर दण्ड देते रहते हैं यदि बालक को प्रशिक्षण अधिक प्रभुत्वशाली वातावरण में दिया जा रहा है तो बालक में कहना न मानने की प्रवृत्ति विकसित हो सकती है जिसके कारण पारिवारिक सम्बन्धों के बिगड़ने की सम्भावना रहती है।

6.5.2–<u>प्रजातांत्रिक विधि (**Democratic Method**)</u>

इस विधि में माता पिता बालक को विभिन्न आदते ंसिखाने मे अनुमति देने वाले या छूट देने वाले होते हैं। अभिभावक उदारता अधिक दिखाते हैं तथा दण्ड कम देते हैं वह बालक को उसकी योग्यताओं और क्षमताओं के अनुसार उसे प्रशिक्षण देते हैं। इस विधि द्वारा प्रशिक्षण से बालक में स्वतंत्र चिन्तन, अधिक सृजनात्मकता अधिक सहयोग जैसे लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। इन लक्षणों की उपस्थिति में बालक के पारिवारिक सम्बन्ध अच्छे हो सकते है।

6.5.3–<u>उदारतावादी विधि (**Permissive Method**)</u>

इस विधि में अभिभावक बालक को उतनी छूट देते हैं जितना बालक चाहता है या जितनी छूट से बालक खुश हो जाता है इस विधि द्वारा प्रशिक्षण जो मानने वाले अभिभावक यह समझते हैं कि बालक जब अपने किये गये बुरे कार्यों के परिणाम स्वयं भोगेगा, तो वह सुधर जायेगा। इस विधि में बच्चों में अनुशासनप्रियता विकसित नहीं होती है। ऐसे बच्चों के पारिवारिक सम्बन्ध बिगड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है।

सीयर्स, मैकाबी एवं लेविन ने अपने अध्ययनों के आधार पर पाया कि विभिन्न सामाजिक वर्गों में बच्चों के पालन पोषण के लिये भिन्न भिन्न विधियों का उपयोग किया

जाता है जिसके कारण उनके व्यक्तित्व में परस्पर भिन्नता दिखलाई देती है। सीयर्स ने बालक के व्यक्तित्व विकास में परिवार द्वारा प्रयुक्त शिशु पालन विधियों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। बाल व्यक्तित्व में अनेक विशेषताएं पोषण विधियों के कारण ही उत्पन्न होती है। माता पिता की बालक के प्रति जो अभिवृत्ति होती है वही यह निर्धारित करती है कि बालक अपना समायोजन घर के अन्दर और बाहर कितनी अच्छी या बुरी तरह करेगा माता पिता प्रायः इसी तरह की बाल प्रशिक्षण विधियों का प्रयोग करते हैं जिस तरह की विधियों का उसके माता पिता ने प्रयोग किया था। वत्सावस्था में प्रशिक्षण में अधिक ध्यान वत्स के खाने पीने, शौच और सोने पर किया जाता है वत्स को इन बातों में प्रशिक्षित करने में जिन प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है वे प्रभुत्वशाली होती है या फिर प्रजातांत्रिक उच्च शिक्षित माता पिता बाल प्रशिक्षण की विधियों के प्रयोग मे कम शिक्षा पाये हुए लोगों की अपेक्षा उदार होते हैं (Spitz A Smiling Response) उच्च एवं निम्न सामाजिक आर्थिक वर्गो के माता पिता की अपेक्षा मध्यम वर्ग के माता पिता प्रशिक्षण लागू करने में अधिक सख्त होते हैं वे प्रशिक्षण जल्दी शुरु करते हैं तथा वत्स से आज्ञा पालन की आशा अधिक करते हैं। माता पिता प्रशिक्षण की जिस विधि का प्रयोग करते हैं उसका और प्रशिक्षण के दौरान वत्स में होने वाली प्रतिक्रियाओं के प्रति उसका जो रुख होता है उसका प्रभाव माता पिता के सम्बन्धों पर बहुत अधिक पड़ता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व पर उसके पालन पोषण में प्रयुक्त विधि का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। बच्चों को कठोर अनुशासन में रखने तथा स्नेह का अभाव होने से उनमें समायोजन के गुणों का समुचित विकास नहीं हो पाता है। Heyman and Heffers, 1964. Koch 1960 and Staccy, 1967 के अनुसार बचपन में पालन पोषण की विधियां तथा पारिवारिक परिवेश ही व्यक्तित्व के शील गुणों की आधार शिला रखते हैं।

6.6—सारांश :—

बच्चे के लालन पालन का उसके भविष्य में निर्धारित होने वाले व्यक्तित्व पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। लालन पालन के दौरान माता पिता की अभिवृत्ति (Attitude) व्यवहार (Behaviour) तथा संवेगात्मक प्रतिक्रिया (Emotional Response) का बालक के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। बच्चे के विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन के प्रशिक्षण का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व माता का होता है। जहां माता पिता समान रुप से बच्चे का लालन पालन करते हैं वहां बच्चा स्वयं को अधिक सुरक्षित व प्रसन्न महसूस करता है।

पारिवारिक वातावरण, पारिवारिक रचना, परिवार की सामाजिक आर्थिक दशा तथा माता पिता के अपने बच्चों के साथ सम्बन्धों की दृष्टि से परस्पर भिन्नता पायी जाती है फलस्वरुप एक परिवार में विकसित बच्चा एक दूसरे परिवार में विकसित बालक से भिन्न होता है। माता पिता और बच्चों के बीच कई प्रकार के सम्बन्ध देखे जाते हैं जो माता पिता बच्चों के बीच कई प्रकार के सम्बन्ध देखे जाते हैं। जो माता पिता बच्चों के प्रति आवश्यकता से अधिक सर्तकता प्रदर्शित करते हैं और छोटी छोटी बातों को लेकर चिन्तित

हो उठते हैं फलः बालक में पराश्रयी बने रहने की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। इसके विपरीत कुछ माता पिता बच्चे का तिरस्कार करते हैं डांटते हैं फटकारते रहते हैं ऐसे परिवारों में पले बढ़े बच्चे हीनता की भावना से पीड़ित हो जाते हैं माता पिता की बालक के प्रति जो अभिवृत्ति होती है वही यह निर्धारित करती है कि बालक अपना समायोजन किस तरह से करेगा।

6.7—शब्दावली

वत्सावस्था – बचपनावस्था
वत्स – बालक
सानिध्य – समीप
प्रतिस्पर्धा – प्रतियोगिता
ईर्ष्या – जलन
सामाजिक स्वीकार्यता – समाज द्वारा स्वीकार किया जाना
सहोदर – भाई–बहन
कुसमायोजित – खराब समायोजन
निष्पादन – कार्य
समवयस्क – साथ के (अपनी उम्र के बराबर वाले बच्चे)
पराश्रयी – दूसरों पर आश्रित

6.8—स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :–

(1) सही/गलत का निशान लगाइये–

1. वत्स का सम्पर्क सबसे पहले अपने दोस्तों के साथ होता है।
2. बचपनावस्था में बालक पर सर्वाधिक प्रभाव उसके माता पिता का होता है।
3. पूर्व बाल्यावस्था में बालक के प्रतित माता पिता की अभिवृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है।
4. दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच चलने वाली पारस्परिक क्रियाएं जो एक दूसरे के लिये उद्दीपक का कार्य करती है, अन्तः क्रियाएं कहलाती हैं।
5. भूख, प्यास, थकान या अकेलेपन की परिस्थिति में बच्चा उन व्यक्तियों का साथ ढूढ़ता है जिससे उन्हें लगाव नही ंहोता है।
6. प्रारम्भिक वर्षों में पारिवारिक समायोजन प्रशिक्षण की पांच विधियां है।

(2) <u>लघु उत्तरीय प्रश्न</u>

1. पारिवारिक सम्बन्ध किसे कहते हैं?
2. अनुकरण किसे कहते हैं?

3 पूर्व बाल्यावस्था में माता पिता और बालक के बीच सम्बन्ध परिवर्तित होने के मुख्य कारण क्या हैं?

4 उत्तर बाल्यावस्था में माता पिता और बालक के बीच सम्बन्ध परिवर्तित होने के मुख्य कारण हैं?

5 लगाव सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर बच्चे के भीतर कौन सी विशेषताएं पाई जाती हैं?

6 प्रारम्भिक वर्षों में बालक को किस विधिद्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है?

6.9—सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :—

- ❖ डॉ0 अरुण कुमार सिंह— उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, प्रकाशन— मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली।
- ❖ डॉ0 जे0एन0 लाल— आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा—2
- ❖ लारा बर्क, पार्ट फाइव, काण्टेक्टस, फॉर डेवलपमेन्ट
- ❖ डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद सिंह, डॉ0 जितेन्द्र कुमार उपाध्याय, डॉ0 राजेन्द्र सिंह— विकासात्मक मनोविज्ञान, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली।
- ❖ डॉ0 आर0एन0 सिंह आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा—2
- ❖ एलिजाबेथ बी0हारलॉक, डेवलपमेन्टल साइकोलॉजी, ए लाइफ स्पेन, एप्रोच, टाटा मैकग्रा हिल।
- ❖ डॉ0 डी0एन0 श्रीवास्तव और प्रीति वर्मा, बाल मनोविज्ञान, बाल विकास।

6.10—निबन्धात्मक प्रश्न :—

1 बचपनावस्था में बालक के माता पिता के साथ सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए?
2 लगाव सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिए?
3 जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में परिवार द्वारा बालक को प्रशिक्षण किन किन विधियों द्वारा दिया जाता है?

इकाई 7. विकासात्मक विकृति की जाँच एवं निर्धारण, अधिगम विकृति एवं वाणी विकृति (Screening and Assessment for Developmental Disorders, Learning Disorder and Speech Disorder)

7. 1 प्रस्तावना

7.2 उद्ददेश्य

7.3 खंड एक: विकासात्मक विकार के प्रकार, प्रकृति एवं जाँच (स्क्रीनिंग) व मूल्याँकन।

7.3.1 जाँच(स्क्रीनिंग) व मूल्याँकन का अर्थ।

7.3.2 विकासात्मक विकार का अर्थ, उनकी प्रकृति एंव प्रकार।

7.3.3 विकासात्मक विकार के प्रकार जैसे आटिज्म, रेट्स विकार, एसपरजर संलक्षण (सिंड्रोम), ध्यानहीनता एवं अतिचंचलता विकार (ए०डी०एच०डी०), एवं मानसिक मंदता के लक्षण एवं स्क्रीनिंग व मूल्याँकन परीक्षणों का विवरण।

7.4 खंड दो: सीखना विकार एवं भाषा विकारों के प्रकार व उनकी जाँच व मूल्यांकन।

7.4.1 सीखना विकार (लर्निंग डिसऑर्डर) की प्रकृति।

7.4.2 सीखना विकार के प्रकार व उनकी जाँच व मूल्यांकन।

7.4.3 भाषा विकारों की प्रकृति, प्रकार व उनकी जाँच व मूल्यांकन।

7.5 सारांश

7.6 शब्दावली

7.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.9 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप जाँच (स्क्रीनिंग) एवं मूल्यांकन क्या होता है यह जानेंगे। विभिन्न जाँच (स्क्रीनिंग) एवं मूल्यांकन परीक्षणों व तकनीकों का अध्ययन करेगें।

इसके अतिरिक्त आप विकासात्मक विकार क्या होते हैं? तथा उनकी प्रकृति व प्रकार क्या हैं? आदि को जानेंगे।इसके अंतर्गत आप आटिज्म, रेटस डिसऑर्डर,एसपरजर संलक्षण(सिंड्रोम),ध्यान हीनता एवं अतिचंचलता विकार(AttentionDeficitHyperactivityDisorder,ADHD),मानसिक मंदता व अन्य विकारों आदि के बारे में अध्ययन करेंगें।इसके अतिरिक्त आप इनकी जाँच और मूल्यांकन परीक्षणों और DSM मानदंडों को भी जानेंगे।

सीखना विकार(लर्निंग डिसऑर्डर)जैसे-पठनविकार,लेखन विकारतथागणितीय विकारआदि की प्रकृति को समझ पाएंगे।यह इकाई लर्निंग डिसऑर्डर के प्रकारों उनकी विशेषताओं और परीक्षणों के बारे में भी आपको जानकारी प्रदान करती है।इसके अतिरिक्त इस इकाई में भाषा विकार के प्रकारों तथा उनके स्क्रीनिंग एवं मूल्याँकन के बारे में चर्चा की गई है।

7.2 उददेश्य:

इस इकाई के उपरांत आप –

1.जाँच (स्क्रीनिंग) व मूल्यांकन का अर्थ एवं उनमें विभेदीकरण कर सकेंगें।

२.विकासात्मक विकार का अर्थ, प्रकार व उनकी प्रकृति को समझ सकेंगें।

3.विकासात्मक विकारों जैसे– आटिज्म,रेट्स विकार, एसपरजर संलक्षण(सिंड्रोम),ध्यान हीनता एवं अतिचंचलता विकार (ए०डी०एच०डी०),एवं मानसिक मंदता की जाँच(स्क्रीनिंग) व मूल्याँकन परीक्षणों को सूचीबद्ध कर सकेंगें।

4.लार्निंग डिसऑर्डर के प्रकारों एवं उनके स्क्रीनिंग व मूल्यांकन परीक्षणों का वर्णन कर सकेंगे।

5.भाषा विकारों की पहचान हेतु स्क्रीनिंग व मूल्याँकन जान सकेंगे।

7.3 खंड एक

आप यह जानना चाहेंगे,कि विकासात्मक जाँच (स्क्रीनिंग) क्या होती है? विकासात्मक जाँच (स्क्रीनिंग)विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य प्रॉफेशनलद्वारा विभिन्न प्रकार की सेटिंग में की जाती है।विकासात्मक जाँच या स्क्रीनिंग यह प्रदर्शित करती है,कि बच्चा विकासात्मक विकार के जोखिम में है,या नहीं ।जाँच के पश्चात अनुभवी प्रॉफेशनल के द्वारा नैदानिक मूल्यांकन किया जाता है,जिसके आधार पर निदान(Diagnosis)किया जाता है।जिससे जल्दी उपचार एवं पुनर्वास प्रक्रिया प्रारम्भ हो सके।अमेरिकन एकेडमी आफ पेडियाट्रिक्सने यह सिफारिश की है,कि प्रत्येक बच्चे की विकासात्मक देरी तथा विकलांगता की नियमित जाँच की जानी चाहिए।यह जाँच 9,18 तथा 24-30 महीने पर होनी चाहिए।उन बच्चों की विशेष जाँच होनी चाहिए जो जोखिम के दायरे में हैं।जब बच्चों के बुनियादी कौशल सीखने में देरी होती है,तो उसकी पहचान हेतु स्क्रीनिंग की जाती है,जो बच्चे उच्च जोख़िम की स्थिति में हैं,जैसे-अपरिपक्व जन्म,जन्म के समय वजन का कम होना,आनुवांशिक विकारों की स्थिति में या अन्य कारणों की वजह से विकास की समस्याओं आदि के लिए अतिरिक्त स्क्रीनिंग की जरूरत हो सकती है।

निदान के प्रथम चरण में स्क्रीनिंग होती है,तथा दितीय चरण में एक व्यापक मूल्यांकन होता है।इसमें बच्चे के व्यवहार और विकास की गहन समीक्षा तथा माता पिता का साक्षात्कार शामिल होता है।ये कार्य विकासात्मक बाल रोग विशेषज्ञों(जिन्हें विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के विकास में प्रशिक्षण हो)तथा बाल मनोवैज्ञानिक या मनोचिकित्सकों आदि द्वारा किया जाता है।

7.3.1 विकासात्मक स्क्रीनिंग

आपने देखा होगा की कुछ बच्चे जल्दी चलना बोलना आदि आरंभ करने लगते हैं और कुछ बहुत देर से। किसी बच्चे के विकास के बारे में जानकारी उसके विभिन्न क्रियाओं को वह कब आरंभ करता है,उसके द्वारा होती है-

जैसे बोलना,चलना,भाषा,खेल,संवेगात्मक व्यवहार और सीखना आदि। ये सभी विकास के चरण(DevelopmentalMilestones)हैं। इन चरणों की प्रगति विकासात्मक स्क्रीनिंग से मापी जाती है।एक स्क्रीनिंग परीक्षण अक्सर एक प्रश्नावली के रूप में होता है,और माता पिता या देख रेख करने वाले(caregivers)के साथ साक्षात्कार द्वारा पूरा किया जाता है। स्क्रीनिंग परीक्षण में बहुविकासात्मक क्षेत्र(Multi-DevelopmentalDomains) तथा सामाजिक व संवेगात्मक क्षेत्र शामिल होते हैं। स्क्रीनिंग परीक्षण दो प्रकार के होते हैं,प्रथम पेशेवरद्वारा प्रशासित तथा दूसरे परिवार एवं देख रेख करने वाले लोगों द्वारा पूर्ण किए जाते हैं।

विकासात्मक स्क्रीनिंग का महत्व

स्क्रीनिंग बच्चों के स्वास्थ्य एवं विकास में सुधार करने हेतु महत्वपूर्ण है।यह विकासात्मक समस्याओं व विकारों के जोखिम की पहचान करती है।स्क्रीनिंग बच्चे की विकलांगता एवं विकासात्मक समस्या का निदान नहीं करती, बल्कि यह आगे के मूल्यांकन की जरूरत का सुझाव देती है।एक स्क्रीनिंग परीक्षण स्वास्थ्य जाँच का विकल्प नहीं है।

- विकास और व्यवहार समस्याओं की जल्द एवं शीघ्र पहचान करती है।
- जल्दी इलाज व पुनर्वास के लिए उपयोगी होती है।
- मनोवैज्ञानिक व बच्चे के परिवार के मध्य सम्बन्ध बनाने में सहायक होती है।
- स्वस्थ व्यवहार और विकास को बढ़ावा मिलता है।
- बच्चे के विकास के बारे में माता-पिता/देख-रेख करने वाले को सिखाने में मदद करना।
- हस्तक्षेप एवं आवश्यक सेवाओं की योजना बनाने हेतु, निदान के बारे में माता पिता और देख भाल करने वालों को व्यापक और संवेदनशील प्रतिक्रिया देने में मदद करती है।

विकासात्मक जाँच परीक्षण (DevelopmentalScreeningTest)

विकासात्मक जाँच परीक्षण विकासात्मक देरी को चिहिन्त एवं उनकी पहचान करने हेतु बनाए जाते हैं।जाँच परीक्षण प्रति एक विकार हेतु विशिष्ट हो सकते हैं,जैसे ऑटिज़्म,ADHD आदि।यह विशिष्ट विकासात्मक क्षेत्र से संबंधित भी हो सकते हैंजैसे-संज्ञानात्मक विकास, भाषा विकास,एवं दीर्घ-गातिकीय कौशल(GrossMotorskills),सामाजिक विकास आदि।अन्य जाँच परीक्षण सामान्यतया विविध चिंताजनक क्षेत्रों(Multipleareasofconcern)की जाँच करते हैं।जाँच परीक्षण मुख्यतया नैदानिक क्षेत्र, बालरोग विभाग(Pediatrics),स्कूल तथा सामुदायिक क्षेत्र (Communitysetting)में उपयोग में लाए जाते हैं।जाँच परीक्षण विकासात्मक देरी या विकलांगता के निदान हेतु निष्कर्षशीय साक्ष्य(conclusiveevidence)प्रदान नहीं करते हैं।जाँच में प्राप्त सकारात्मक परिणाम के बाद हमेशा एक व्यापक मूल्यांकन किया जाता है,क्योंकि स्क्रीनिंग परीक्षण मात्र सूचना प्रदान करते हैं, निदान नहीं।

मूल्यांकन(Assessment)-मूल्यांकन एक विस्तृत प्रक्रिया है,जिसके द्वारा बच्चे के बारे में महत्वपूर्ण निर्णय लेने हेतु चिकित्सक समस्या को समझने का प्रयास करता है।इसके लिए वह किसी एक परीक्षण का नहीं अपितु विभिन्न माध्यमों से सूचनाएँ एकत्रित करता है।मूल्यांकन के अंतर्गत हम व्यवहार का गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों तरह से विवेचन करते हैं।स्क्रीनिंग का क्षेत्र संकुचित होता है,व मूल्यांकन का क्षेत्र विस्तृत।मूल्यांकन में व्यवहार का समग्र रूप से अध्ययन किया जाता है। मूल्यांकन प्रक्रिया में समय अधिक लगता है। निदान हेतु एक व्यापक बहुआयामी मूल्यांकन की आवश्यकता होती है। मूल्यांकन में निम्न बिन्दु शामिल होते हैं- विकासात्मक एवं परिवार का इतिहास,बच्चे के व्यवहार और अन्य व्यक्तियों के साथ उसकी अन्त:क्रिया का अवलोकन, संज्ञानात्मक मूल्यांकन, भाषा, ध्यान, प्रत्यक्षण, अभिक्षमता, आदि का परीक्षण।

7.3.2 विकासात्मक विकार(DevelopmentalDisorders)

आपको विकासात्मक विकारों की प्रकृति को जानना जरूरी है।विकासात्मक विकार बचपन में होने वाले मनोरोगों का समूह है,जिसमें विभिन्न विकासात्मक क्षेत्रों में गंभीर हानि(Deficits)होती है।विकासात्मक विकार आरंभिक जीवन से ही मौजूद होते हैं। इसमें भाषा विकार,सीखना विकार(अधिगम विकार),तथा ऑटिज्म स्पेक्ट्रम दिसऑर्डर शामिल होते हैं।इसके आतिरिक्त इसमें मानसिक मंदता व ध्यान हीनता एवं अतिचंचलता(ADHD)भी शामिल है।यह गंभीर चिरकालिक(Chronic)स्थिति है।इसमें विकास के विभिन्न क्षेत्र प्रभावित होते हैं,जैसे-भाषा, गतिशीलता,स्वयं-सहायता(Self-help),बौद्धिक, सामाजिक और संवेगात्मक।विकासात्मक विकार का जल्द पता लगाया जा सकता है, परंतु यह जीवन भर रहने वाली स्थिति है। अमेरिकन मनोरोग एसोसिएशन(AmericanPsychiatricAssociation,APA)के नैदानिक और सांखियकीय मैनुयल(DiagnosticandStatisticalManual)DSM-III ने 1980 में व्यापक विकास विकार(PervasiveDevelopmentalDisorder,PDD)श्रेणी में विकारों के एक समूह को शामिल किया,जिसमें ऑटिज़्म सहित अन्य सामाजिक, संज्ञानात्मक, भावनात्मक, एवं भाषागत असमान्यताओं से संबन्धित विकार सम्मिलित थे।DSM-IV-TR में व्यापक विकासात्मक विकारों (PDD)की श्रेणी में पाँच विकारों को शामिल किया गया है।

7.3.3a ऑटिज्म (Autism) या स्वलीनता/आत्मविमोहिता/आत्मकेंद्रिता

ऑटिज्म का वर्णन सर्वप्रथम लियो कैनर(LeoKanner)ने 1943 में अपनी रिपोर्ट में किया। ऑटिज़्म एक गंभीर विकासात्मक विकार है।ऑटिज्म व्यापक विकासात्मक विकार की श्रेणी में से एक विकार है,यह शैशवावस्था में प्रारंभ होने वाला विकासात्मक विकार है।इसके लक्षण जन्म के प्रथम तीन वर्ष में नज़र आने लगते हैं।यह जीवनपर्यंत रहने वाली स्थिति है।इसमें अनेक व्यवहारात्मक असमान्यताएँ होती हैं,जैसे भाषागत,प्रत्यक्षिक,गतिपरक,दोषपूर्ण सामाजिक विकास, सामाजिक विरक्ति,भाषाई एवं अभाषाई सम्प्रेषण का अभाव आदि।इससे प्रभावित बालक सीमित और दोहराव युक्त(Repetitive)व्यवहार करता है,जैसे एक ही काम को बार-बार करना।ये बच्चे कुछ वस्तुओं के प्रति बहुत अधिक या बहुत कम संवेदनशील हो सकते हैं।लक्षण कम गंभीर से अधिक गंभीर हो सकते हैं।ऐसा बच्चा बाहरी दुनिया और परिवार से अलग अपनी दुनिया में खोया रहता है।श्रवण व दृष्टि क्षमता के सामान्य होते हुए भी वह अपने आस पास के वातावरणसे अंजान रहता है।ऑटिज्म के लक्षणों के द्वारा ही इसकी पहचान हो सकती है।

निदान नैदानिक मानदंडों,बच्चे के व्यवहार पैटर्न और विकास की जाँच व मूल्यांकन पर निर्भर करता है।इसका निदान 2 वर्ष की आयु तक मजबूती से किया जा सकता है।ऑटिज्म व अन्य व्यवहारात्मक विकृतियों की जाँच व निदान में सहायता के लिये विशेष रूप से स्क्रीनिंग एवं नैदानिक परीक्षण विकसित हुये हैं।ऑटिज्म की पहचान हेतु निम्न परीक्षण उपयोगी हैं -

1.गिल्लियन्स ऑटिज्म रेटिंग स्केल(Gillian'sAutismRatingScale,GARS)-यह मनो- वैज्ञानिकों, शिक्षकों, माता-पिता, तथा चिकित्सकों को ऑटिज्म की पहचान एवं निदान में मदद करता है।(3-22 वर्ष)यह विकार की गंभीरता को मापता है।इसे प्रशासित करने में 5-10 मिनट लगते हैं।इसमें 42 पद है।

2.चाइल्डहुड ऑटिज्म रेटिंग स्केल(ChildhoodAutismRatingScale,CARS)-ऑटिज्मके निदान हेतु यह व्यवहारत्मक रेटिंग स्केल है।इसे एरिक स्कोप्लर,रिचर तथा बारबारा रोचन रेनर(1980)द्वारा विकसित किया गया ।यह सामान्य ऑटिज्म से लेकर अति गंभीर ऑटिज्म की पहचान करता है।यह मनोवैज्ञानिक/चिकित्सक द्वारा माता-पिता के साक्षात्कार तथा मनोवैज्ञानिक /चिकित्सक द्वारा बच्चे के अवलोकन पर आधारित होता है।यह प्रत्यक्ष अवलोकन के आधार पर ऑटिज्म की पहचान के साथ ही लक्षणों की गंभीरता का निर्धारण और उनका प्रमात्रिकरण (Quantification) करता है।यह 2 वर्ष की आयु के ऊपर के लिए उपयुक्त है।

3.मोड़िफाइड चेकलिस्ट फॉर ऑटिज्म इन टोडलर रिवाइज्ड विद फॉलोअप(ModifiedChecklistforAutisminToddlerRevisedwithFollow-up,M-CHAT-R/F)-यह नया संस्करण है।16-30 महीने तक के बच्चों के लिए वैध है।यह दो स्तर में तथा माता-पिता की रिपोर्ट पर आधारित स्क्रीनिंग परीक्षण है,जो कि ऑटिज़्म के जोखिम का मूल्यॉंकन करता है,व संवेदनशीलता (sensivity) को बढ़ाता है।

4.ऑटिज्म बिहेविअर चेकलिस्ट (AutismBehaviourChecklist,ABC)-क्रग,ऐरिक और अलमंड,(1980)द्वारा विकसित व मानकीकृत रेटिंग स्केल है।जो कि गंभीर ऑटिज्म व्यवहार का मापन करता है।

आपने उपरोक्त परीक्षणों के बारे में जाना पर मात्र यह परीक्षण सम्पूर्ण नहीं हैं।ऑटिज्म के पहचान व निदान हेतु अन्य बहुत से परीक्षण हैं।ये सभी परीक्षण और स्क्रीनिंग परीक्षण विस्तृत साक्षात्कार एवं अवलोकन पर आधारित होते हैं।सभी नैदानिक दृष्टि और शोध अध्ययनों हेतु उपयोगी हैं।यह परीक्षण बहुत अधिक समय लेने वाले तथा इनके प्रशासन के लिए अत्याधिक प्रशिक्षण वअनुभव आवश्यक होता है।

7.3.3b **एसपरजर सिंड्रोम** *(AspergerSyndrome)*

कैनर द्वारा ऑटिज्म के मूल लेख के प्रकाशन के एक साल बाद 1944 में हैन्स एसपरजर ने एक लेख प्रकाशित किया,जिसमें उन्होनें एसपरजर सिंड्रोम का वर्णन किया।इन्होनें बताया कि इन बच्चों में सामाजिक कौशलों एवं संप्रेषण(Communication)कौशलों में कमी,रूढ़िगत व्यवहार(RitualisticBehaviour),दिनचर्या व पसंदपरिवर्तनों को नकारना आदि,व्यवहार शामिल होता है।इन बच्चों में भाषा(बोलने और समझने की भाषा)एवं संज्ञानात्मक विकास में देरी नहीं होती है।इनमें स्वयं की देखभाल,अनुकूली व्यवहार और वातावरण के प्रति उत्सुकता भी सामान्य रूप से विकसित होता है।सामाजिक अन्तक्रिया और दोहराव युक्त व्यवहार व रुचि होती

*है।इसके निदान को लेकर अलग-अलग मत हैं।शीघ्र निदान हेतु विभेदीकरण निदान (DifferentialDiagnosis)*जरूरी है,क्योंकि अन्य बहुत से लक्षण PDD के अन्य विकारों में भी उपस्थित होते हैं।एसपरजर सिंड्रोम का मूल्यांकन एवं निदान बहुत पेचीदा है।एसपरजर सिंड्रोम में बच्चे की भाषा और स्वं-सहायता(self-help)कौशलों का विकास समय से होता है,अतः आरंभ में इसकी पहचान नहीं हो पाती है।इसकी पहचान और निदान अक्सर 4 से 11 वर्ष के बीच होता है।कई बार इसका निदान गलत हो जाता है,क्योंकि इसके निदान को लेकर बहुत सी विभिन्नताएँ हैं।DSM-IV और ICD-10 में भी कुछ बिन्दुओं पर विभिन्नता है।DSM-V ने इसे PDD से हटा दिया है,और इसे एक अलग विकार नहीं माना है।एसपरजर सिंड्रोम के लिए मानकीकृत परीक्षण नहीं है।अतः इसका निदान विभेदीकरण निदान के अंतर्गत किया जाता है।निम्न परीक्षण एसपरजर सिंड्रोम हेतु उपयोगी है-*

<u>ऑटिज्म स्पेक्ट्रम स्क्रीनिंग प्रश्नावली,एहलेर्स,गिल्लबर्ग एवं विंग</u>(AutismSpectrumScreeningQuestionnaire,ASSQ)-इसमें 27 पद हैं।यह 3 बिन्दु मापनी(0,1 और 2)स्क्रीनिंग, रेटिंग स्केल है।इसका प्राप्तांक प्रसार 0-54 है।इसमें 11 पद सामाजिक अन्तःक्रिया,6 संप्रेषण,तथा 5 रूढ़िगत व सीमित व्यवहार से संबन्धित हैं।अन्य पद अन्य लक्षणों से संबन्धित हैं।प्रशासन में 10-15 मिनट लगते हैं।यह निदान हेतु प्रयुक्त नहीं किया जाता। यह मात्र एस्परजर सिंड्रोम की सूचना देता है। निदान के लिए फिर एक व्यापक मूल्यांकन की जरूरत होती है।

7.3.3c **रेट्स विकार** *(Rett'sDisorder)*

*यह एक प्रगतिशील विकासात्मक अपक्षयी विकार(ProgressiveDevelopmentalDegenerativeDisorder)है।जो मुख्य रूप से लड़कियों में होता है।यह आमतौर पर गंभीर बौद्धिक विकलांगता के साथ जुड़ा होता है।6 महीने तक बच्चे का विकास सामान्य होता है,परंतु उसके बाद सिर की परिधि(HeadCircumference)का विकास रुक जाता है।पूर्व के अर्जित गतिक कौशल धीरे-धीरे 6 महीने से 4 साल की उम्र तक खत्म हो जाते हैं, और हाथों की उँगलियों में असामान्य गतिविधियां आरंभ हो जाती हैं।शरीर का निचला हिस्सा व पेरों की गतिविधि में क्रमिक हास होने लगता है। बच्चे में धीरे-धीरे भाषा कौशल,सामाजिक रुचि तथा वातावरण के प्रति लगाव कम हो जाता है।शुरुआत में इसके लक्षण ऑटिज्म से मिलते जुलते लगते हैं।ऑटिज्म की अपेक्षा ये बच्चे सामाजिक रूप से अपेक्षाकृत ज्यादा जागरूक(Aware)होते हैं।उम्र बढ़ने के साथ मांसपेशियाँ खराब हो जाती हैं,और रीढ़ की हड्डी में वक्रता(Scoliosis),माँसपेशियों में ऐंठन(Spasticity) और गतिशीलता में हास होने लगता है। इसका प्रसार (prevalence)*एक केस प्रति 20,000 होता है।*

7.3.3d **चाईल्डहुड डिसइंटीग्रेटिव डिसऑर्डर** *(ChildhoodDisintegrativeDisorder)*

इसे हेलर डिसऑर्डर(Heller'sDisorder)के नाम से भी जाना जाता है।इस विकार का प्रसार एवंव्यापकता बहुत ही दुर्लभ है।इसकी व्यापकता दर(prevalencerate)1.7 प्रति एक लाख है।यह विकार लड़कियों को कम तथा लड़कों को ज्यादा प्रभावित करता है। भाषा,विकास,सामाजिक विकास,खेलने के कौशलों का विकास प्रथम 2-4 वर्ष तक सामान्य होता है,और बिना किसी चिकित्सीय कारण के इनका प्रतिगमन(regression)होने लगता

है।ज्यादातर मामलों में कोई विशिष्ट न्यूरोपेथोलोजिकल असामान्यता नहीं होती है।DSM मानदंडों के अनुसार बच्चे में निम्न विकास क्षेत्र में से दो में प्रतिगमन होना चाहिए जैसे-भाषा,सामाजिक कौशल,खेलने के कौशल,अनुकूली व्यवहार,आंत्र व मूत्राशय नियंत्रण(BowelandBladderControl)तथा ये हास 10 वर्ष की आयु से पूर्व होने चाहिए।

7.3.3e मानसिक मंदता (MentalRetardation)

मानसिक मंदता का अर्थ अपेक्षाकृत ऐसे सीमित अथवा कम बौद्धिक विकास से है,जिसमें व्यक्ति का व्यवहारिक तथा सामाजिक समायोजन लगभग स्थायी रूप से अवरुद्ध हो जाता है।अमेरिकन साईकिएट्रिक एसोशिएशन तथा अमेरिकन एसोशिएशन ऑफ मेंटल रिटारडेशन(AAMR)के अनुसार मानसिक मंदता से सामान्यतया ऐसी अवसामान्य(Subnormal)बौद्धिक कार्यक्षमता का बोध होता है,जिसका आरंभ विकासात्मक अवधि(DevelopmentalPeriod)में होता है।मानसिक मंदता के सामान्य लक्षण निम्न हैं-

1.अपने ही उम्र के बच्चे की तुलना में अपेक्षाकृत निम्न बौद्धिक विकास ।

2.जीवन स्थितियों के बोध की अयोग्यता व सामाजिक समायोजन का अभाव।

3.सीमित अवधान अवधि एवं सीखने में असमर्थता ।

4.साधारण निर्णय लेने में असमर्थता और आवेग नियंत्रण में कठिनाई।

5.दैनिक कार्यों को करने में कठिनाई/अक्षमता।

मानसिक मंदता का निदानएक व्यापक व्यक्तिगत,पारिवारिक व चिकित्सीय इतिहास,शारीरिक एवं मनो-सामाजिक जाँच के आंकलनों पर निर्भर करता है।जल्द पहचान हस्तक्षेप(Intervention),संसाधन उपलब्ध कराने तथा शीघ्र पुनर्वास(Rehabilitation)हेतु आवश्यक है।इसके अतिरिक्त रेफरल तथा मार्गदर्शन करने के लिए भी यह आवश्यक है।मानसिक मंदता की शीघ्र पहचान हेतु बच्चे के विकास या विकासात्मक चरणको ध्यान में रखा जाता है।यह भी देखा जाता है,कि बच्चा अपनी उम्र के बच्चों से विकासात्मक चरणों में पीछे है,अथवा नहीं।विकासात्मक देरी हमेशा ही मानसिक मंदता का कारण हो यह आवश्यक नहीं है,परंतु बहुत हद तक यह मानसिक मंदताकी जल्द पहचान हेतु आरंभिक संकेत होता है।विकासात्मक देरी एक व्याख्यात्मक शब्द है।यह उस बच्चे के लिए प्रयुक्त होता है।जो निम्न पाँच में से एक या अधिक क्षेत्र में सामान्य आयु से पीछे होता है।

(अ) वृहद पेशीय विकास(GrossMotordevelopment)जैसे–बैठना,खड़ा होना,चलना,दौड़ना आदि।

(ब) सूक्ष्म पेशीय विकास (FineMotorDevelopment)-जैसे-पकड़ना,लिखना आदि।

(स) भाषा विकास (LanguageDevelopment)जैसे-भाषा समझ,भाषा उपयोग एवं अभिव्यक्ति।

(ड़) ज्ञानात्मक/बौद्धिक क्षमता विकास (Cognitive/IntellectualDevelopment)

(इ) सामाजिक एवं भावात्मक विकास (SocialandEmotionalDevelopment)

मानसिक मंदता के निदान के लिए बुद्धिलब्धि(IntelligenceQuotient,IQ)जो मानकीकृत परीक्षण द्वारा जाँची गई हो(IQ70 से कम),तथा अनुकूली व्यवहार(कम से कम दो क्षेत्रों में)दोनों ही सामान्य से निम्न स्तर के होंमानसिक मंदता की परिभाषा के अनुसार इसमें तीन प्रमुख तत्व शामिल हैं,पहला, कम बौद्धिक स्तर दूसरा निम्न अनुकूली व्यवहार(ImpairedAdaptiveBehavior)तथा इसका प्रकटन 16 वर्ष की आयु से पूर्व अर्थात विकासात्मक उम्र(DevelopmentalAge)में हो।बौद्धिक स्तर तथा अनुकूली व्यवहार का मापन मानकीकृत परीक्षणों द्वारा सम्भव है।अतः मानसिक मंदता कि जाँच तथा मूल्यांकन हेतु बुद्धिलब्धि तथा अनुकूली व्यवहार का मापन साथ-साथ किया जाता है।दोनों प्रकार के परीक्षणों के आधार पर ही मानसिक मंदता का निदान किया जाता है।बौद्धिक क्षमता और अनुकूली व्यवहार को किसी एक परीक्षण या स्केल द्वारा नहीं मापा जा सकता है।अतः मानसिक मंदता के वैध एवं विश्वसनीय पहचान व निदान हेतु दो से अधिक परीक्षणों की आवश्यकता होती है।मानसिक मंदित बच्चों के मूल्यांकन में बहुत सी परेशानियाँ आती हैं।क्योंकि इन बच्चों में बहुत सी संवेदी हीनता(SensoryDeficits)जैसे दृष्टि,श्रवण,आदि होते हैं,जिससे उनकी निष्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है।मानसिक मंदता की पहचान हेतु दो तरह के परीक्षण उपयोग में लाये जाते हैं,आरंभिक स्तर पर स्क्रीनिंग तथा इसके उपरांत IQ परीक्षण व अनुकूलन परीक्षण।छोटे बच्चों में मानसिक मंदता की पहचान के लिए विकासात्मक देरी को पहचानना आवश्यक है।इसके लिए विशेष स्क्रीनिंग परीक्षण होते हैं,जो ब्च्चे की शारीरिक,मानसिक, सामाजिकव अनुकूली क्षमताओं को मापते हैं,तथा यह देखा जाता है,कि बच्चे में किसी प्रकार की विकासात्मक देरी तो नहीं है।कुछ स्क्रीनिंग परीक्षण निम्नवत हैं-

*(अ)1.<u>सेगुईन फ़ॉर्म बोर्ड (SeguinFormBoard)</u>-यह अत्यधिक उपयोग होने वाला निष्पत्ति परीक्षण है।यह गति एवं शुद्धता को मापता है।यह बच्चे के दृष्टि-हस्त समन्वय(Eye-HandCoordination),आकार संप्रत्यय,दृष्टि प्रत्यक्षण और बौद्धिक क्षमता का मापन करता है।यह मुख्य रूप से दृष्टि-गति कौशलों का मापन करता है।बच्चे को 10 ज्यामितीय लकड़ी के ब्लॉक पहचान कर लगाने होते हैं।इसका आयु प्रसार 3-15 वर्ष है।इसके भारतीय मानक*भी उपलब्ध हैं।*

2.<u>बेली स्केल ऑफ इनफेन्ट डेव्लपमेंट (Bayley'sScaleofInfantDevelopment)-</u>
यहमानसिक,शारीरिक,संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास का मापन करता है।मानसिक स्केल बौद्धिक विकास का मापन करता है।इसमें मुख्य रूप से स्मृति,सीखना,समस्या समाधान और वाचिक सम्प्रेषण कौशल शामिल होते हैं।गतिकीय स्केल बच्चे की दीर्ध मांसपेशियों(GrossMotor)द्वारा की जाने वाली गतिविधियों के समन्वय तथा सूक्ष्म गतिकीय कौशलों(FineMotorSkills)का मूल्यांकन करता है।इन्फेन्ट व्यवहार रिकार्ड(IBR)को परीक्षण के दौरान के व्यवहार द्वारा विश्लेषित करते हैं।यह सामान्य विकास व विकासात्मक देरी के शीघ्र निदान में सहायता करता है।

3.<u>डवलपमेंटल प्रोफ़ाइल-3,(गेराल्ड डी अलपर्न)(DevelopmentalProfile,DP-3)</u>-यह विकासात्मक देरी की पहचान मुख्यतया पाँच क्षेत्रों(Areas)में करता है।(जन्म से 12 वर्ष)।विकासात्मक प्राप्तांक के अतिरिक्त पाँच स्केल शारीरिक,अनुकूली व्यवहार,सामाजिक-संवेगात्मक,बौद्धिक और सम्प्रेषण का भी मापन करता है।यह माता-पिता/देखभाल करने वाले के साक्षात्कार द्वारा होता है। प्राप्तांकों की व्याख्या के साथ यह स्केल पैटर्न विश्लेषण,स्केल-स्केल विश्लेषण प्रदान करता है।

4.विकासात्मक जाँच परीक्षण (DevelopmentalScreeningTest,DST)-यह भरत राज द्वारा निर्मित हैायह जन्म से 15 वर्ष के बच्चों के मानसिक विकास का परीक्षण करता हैामाता पिता से सूचनाएँ एक अर्द्ध संरचित साक्षात्कार द्वारा ली जाती हैंायह परीक्षण उन बच्चों के लिए भी उपयुक्त है,जो परीक्षण में सहयोग नहीं करते या जो बहुविकलांगता तथा गंभीर व्यवहारात्मक समस्याओं से ग्रसित होते हैं।

5.विकासात्मक अनुसूची (DevelopmentalSchedule)–यह बच्चे के संवेदी-गतिकीय गतिविधि के अवलोकन पर आधारित है। इसके द्वारा बच्चे की "विकासात्मक लब्धि" (DevelopmentalQuotient) प्राप्त की जाती हैाये एक प्रकार का स्क्रीनिंग परीक्षण होता है। इसके द्वारा 5 वर्ष तक के बच्चे के विकास का स्तर मापा जाता है।

6.गीजल विकासात्मक अनुसूची (Gesell'sDevelopmentalSchedule,GDS)- यह विकास के 4 क्षेत्रों में प्राप्तांक प्रदान करता है। गति व्यवहार, अनुकूली व्यवहार,भाषा एवं व्यक्तिगत–सामाजिक व्यवहार।

(ब) बौद्धिक स्तर/IQ का मापन

बुद्धि परीक्षणों में भाषाई(Verbal)और निष्पत्ति(Performance)दोनों प्रकार के परीक्षण उपयोग में लाए जाते हैंाअभाषाई और निष्पत्ति परीक्षण में बच्चे को चित्रों,ब्लॉक डिजाइन आदि को अर्थपूर्ण ढंग से संगठित करना होता हैाये संस्कृति मुक्त परीक्षण हैाइनके लिए अनुभव व भाषाई निर्देशों की बहुत कम आवयश्कता होती हैाजिन बच्चों में भाषा और श्रवण सम्बन्धी कठिनाई, कम भाषाई क्षमता,सांस्कृतिक व पर्यावरणीय वंचन होता है,उन बच्चों के लिए भाषाई परीक्षण उत्तम नहीं होतोगिजल ड्राइंग टेस्ट,एलेक्जेंडर पाँस एलांग परीक्षण और कोह ब्लॉक डिजाइन टेस्ट भी निष्पत्ति परीक्षण हैं,जो कि मानसिक मंदित बच्चों के मूल्यांकन हेतु उपयोगी हैं। निष्पत्ति परीक्षण बुद्धि के कुछ गुणों का ही मापन करते हैंाजैसे गतिक्षमता,दृष्टि–गतिकीय प्रत्यक्षण आदिाअतः इन्हें अन्य परीक्षणों के साथ प्रशासित किया जाना चाहिएाअन्य परीक्षण निम्न हैं-

1.डिफ्रेंशियल एबिलिटी स्केल (DifferentialAbility Scales,DAS)-यह व्यक्तिगत प्रशासित परीक्षण माला है,जो कि बच्चों और किशोरों(2 से 17 वर्ष 11 माह)का मापन करती हैायह बौद्धिक क्षमताओं का मापन करता हैाबौद्धिक परीक्षण तर्कना और संप्रत्यात्मक क्षमताओं का मापन कर सामान्य संप्रयात्मक क्षमता(GeneralConceptualAbility)प्राप्तांक प्रदान करता हैाइसमें 20 उपपरीक्षण हैं,जो कि मुख्य बौद्धिक,नैदानिक और उपलब्धि परीक्षणों के समूह में है। नैदानिक उपपरीक्षण गुणों और दुर्बलता को बताता हैायह विकासात्मक देरी की पहचान सार्थक रूप से करता है।

2.वेश्लर प्रीस्कूल एंड प्राइमरी स्केल ऑफ इंटेलिजेंस-आर(WPPSI-R)-यह व्यक्तिगत प्रशासित मानकीकृत परीक्षण है।(तीन से 7 वर्ष तीन माह)इसके 12 उपपरीक्षण दो समूह में हैं। प्रत्याक्षणत्मक-गतिकीय तथा वाचिक(Verbal)ायह दो तरह की बुद्धिलब्धि प्रदान करता हैातथा दोनों IQ प्राप्तांक मिला कर पूर्ण IQ प्राप्तांक प्राप्त होती है। 2 परीक्षण वैकल्पिक हैं,और गंभीर रूप से मंदित बालकों के लिए उपयोगी नहीं हैंाइसका परीक्षण समय अधिक होने के कारण छोटे बच्चों को दो सत्रों में मूल्यांकित करना होता है।

3.वेश्लर इंटेलिजेंस स्केल फॉर चिल्ड्रेन-III(WSIC)-मलिन इंटेलीजेंन्स स्केल फार इंडियन चिल्ड्रेन (MISIC)WISC का भारतीय अनुकूलन है।इसके उपपरीक्षण दो समूह में हैं और वाचिक बुद्धि-लब्धि(VIQ)तथा निष्पत्ति बुद्धिलब्धि(PIQ)और सम्पूर्ण स्केल बुद्धिलब्धि(FullScaleIQ)देते हैं।

4.स्टेनफोर्ड–बिने परीक्षण(SBT)-यह आमतौर पर उपयोग होने वाला वाचिक परीक्षण है।इस परीक्षण का भारतीय अनुकूलन बिने–कामत परीक्षण के रूप में है।(3 से 22 वर्ष)यह सात प्राथमिक क्षमताओं भाषा,स्मृति,संप्रत्यात्मक चिंतन,तर्कना,गणितीय तर्कना,दृष्टि–गत समन्वय और सामाजिक बुद्धि को मापता है।

अन्य परीक्षण जो कि बुद्धि का मापन करते हैंजैसे-भाटिया परीक्षणमाला(BhatiaBattery), गुडएनफ ड्रा-ए-मैन टेस्ट(Good-enoughDraw-A-ManTest),कोह ब्लॉक डिजाइन टेस्ट,कैटल इंनफेंट इंटेलिजेंस स्केल(CattellInfantIntelligenceScale),बैंडर गेस्टाल्ट टेस्ट(BenderGestaltTest),रेवेन्स प्रोग्रेसिव मेट्रीसिस(Raven'sProgressiveMatrices)आदि हैं।

(स) अनुकूली व्यवहार का मापन (MeasurmentofAdaptiveBehaviour)

अनुकूली व्यवहार के अंतर्गत व्यक्ति की सामान्य सामाजिक चुनौतियों से जूझने की क्षमता का पता चलता है।अनुकूली व्यवहार वैचारिक,सामाजिक और व्यावहारिक कौशलों का संग्रह है,जो कि व्यक्ति द्वारा दैनिक जीवन में कार्य करने हेतु सीखा जाता है।अनुकूली व्यवहार रोजमर्रा के जीवन की मांगों को पूरा करने के लिए दैनिक कौशल हैं।यह एक व्यक्ति की सामाजिक और व्यवहारिक क्षमता और दक्षता को दर्शाता है।यह दैनिक जीवन में एक व्यक्ति कितनी अच्छी तरह अपने कार्यों और भूमिका का निर्वहन करता उसे प्रदर्शित करता है।यह सीधे तौर पर बुद्धि से संबन्धित है। इसके मूल्यांकन के लिए सर्वाधिक उपयोग में आने वाले परीक्षण हैं-

1.विनलैंड सामाजिक परिपक्वता परीक्षण(VinelandSocialMaturityScale,VSMS)-VSMS का भारतीय अनुकूलन भी उपलब्ध है।यह अति गंभीर मानसिक मंदित बच्चों के लिए भी उपयोगी है।इसमें माता-पिता/देखभाल करने वाले लोगों से एक अर्द्ध सरंचित साक्षात्कार द्वारा सूचनाएँ एकत्रित कि जाती हैं।

2.नैदानिक अनुकूली व्यवहार स्केल-अमेरिकन एसोसिएशन ऑन इंटेलेक्चुअल एंड डवलपमेंटल डिसएबिलिटीस(AAIDD)का एक नवीन शिड्यूल नैदानिक अनुकूली व्यवहार स्केल(DiagnosticAdaptiveBehaviourScale,DABS)अनुकूली व्यवहार के लिए एक व्यापक मानकीकृत मूल्यांकन है।यह 4-21 वर्ष तक के लिए उपयोगी है।यह तीन क्षेत्र में मापन करता है।

1. *संप्रत्यात्मक कौशल- साक्षरता,स्वयं निर्देश,संख्या सम्प्रत्य पैसे व समय आदि।*
2. *सामाजिक कौशल-अंतर्वेयक्तिक कौशल,सामाजिक समस्या समाधान,नियम को मानना और अपने को शिकार होने से बचाना आदि।*
3. *व्यवहारिक कौशल-स्वयं की देखभाल,व्यावसायिक कौशल,पैसे का इस्तेमाल,सुरक्षा, स्वास्थ्य की देखभाल,स्थानांतरण,दिनचर्या आदि।*

3.अनुकूली व्यवहार मूल्यांकन प्रणाली(AdaptiveBehaviourAssesmentSystem)-यह अनु- कूली व्यवहार का पूर्ण मूल्यांकन प्रदान करता है।यह एकमात्र परीक्षण है,जो कि AAMR की परिभाषा के निर्देशों को आत्मसात करता है।यह अनुकूली व्यवहार के तीन सामान्य क्षेत्रों पर मानक प्रदान करता है।जन्म से 8-9 वर्ष के लिए उपयोगी है।इस परीक्षण का प्रशासन व स्कोरिंग सरल है।यह गुण व दुर्बलता तथा प्रशिक्षण लक्ष्यों को भी मूल्यांकित करता है।यह परीक्षण इसके अतिरिक्त ADHD,भाषा विकार,सीखना विकार के लिए भी उपयोगी है।

7.3.3f ध्यान हीनता एवं अतिचंचलता विकार(AttentionDeficitHyperactivityDisorder,ADHD)-यह एक न्यूरो-बिहेविरल बीमारी है।इस विकार को आसानी से पहचानना मुश्किल है। ADHDको सिर्फ बच्चे के व्यवहार के विशिष्ट लक्षणों से पहचाना जा सकता है। ADHD से ग्रसित बच्चे में मुख्य रूप से तीन विशेषताएं दिखाई देती हैं-एकाग्रता की कमी,अति-चंचलता और अधीरता। ADHD के मुख्यतया लक्षणों के आधार पर तीन प्रकार हैं-

1.प्रमुख रूप से ध्यान हीनता(PredominantlyInattentionType)-इन बच्चों में एकाग्रता की कमी होती है।ये किसी एक काम में मन नहीं लगा पाते।एक कार्य से जल्दी बोर हो जाते हैं। एकाग्रता की कमी के कारण इनका कार्य अव्यवस्थित और असंगठित रहता है।इनका ध्यान आसानी से भंग हो जाता है।किसी विस्तृत वर्णन पर ध्यान नहीं देना,निर्देशों को न तो ध्यान से सुनना,ना ही उन पर अमल करना,वस्तुएं जैसे-पेंसिल,खिलौने,किताब आदि लगातार खोते रहना या भूल जाना,इनके लक्षणों में शामिल है।

2.प्रमुख रूप से अतिचंचलता–आवेगशीलता(PredominantlyHyperactive-ImpulsiveType) अतिचंचलता से आशय बिना किसी उद्देश्य के शारीरिक क्रियायें जैसे-उछलना,कूदना एवं भागा- दौड़ी करते रहना।जो बच्चे अतिचंचल होते है,वो अनावश्यक रूप से बेचैन,विश्रांमहीन,व्याकुल और अस्थिर बने रहते हैं।ऐसे बच्चे अति अधीर होते हैं,तथा किसी विचार के मन में आते ही उसे कार्य में पलट देते हैं,जिससे इस अधीरता के कारण होने वाले दुष्परिणाम की चिंता इन्हें नहीं होती।इनके व्यवहार एवं सोच दोनों में अधीरता या उतावलपन पाया जाता है।ऐसे बच्चे खेल या पंक्ति में अपनी बारी का इंतज़ार नहीं कर सकते,कक्षा में सवाल पूछने से पहले ही जवाब दे देते है,शांत बैठने की जगह पर भी बोलते रहते है।

3 मिश्रित रूप(Combined type)इसमें उपरोक्त दोनों प्रकारों के लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

मिश्रित रूप ADHD सबसे ज्यादा होता है,तथा इस विकार के लगभग 60% बच्चों में होता है। ध्यानहीनता प्रकार 30% बच्चों में अतिचंचलता व आवेगशीलता प्रकार 10% बच्चों में होता है। ADHD इसका निदान मूल लक्षणों की समयावधि के आधार पर होता है।बहुत से स्केल हैं,जो बच्चों की स्क्रीनिंग,मूल्यांकन तथा निदान हेतु उपयोग में लाये जाते हैं।इन परीक्षणों का एकमात्र नैदानिक उपकरण के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता है,और ना ही यह DSM के नैदानिक मूल्यांकन की जगह ले सकते हैं।हालांकि ये लक्षणों की समीक्षा और उनकी मात्रा को निर्धारित करते हैं।ADHD की पहचान हेतु लक्षणों की मात्रा,कितने समय से हैं, व्यवहार के पेटर्न,आदि पर निर्भर करती है।इसलिए आवश्यक है,कि स्क्रीनिंग परीक्षणों के साथ-साथ बुद्धि परीक्षण,व्यवहार- त्मक परीक्षण तथा DSM के नैदानिक मानदंडों के आधार पर ADHD का निदान किया जाए।ADHDके निदान हेतु व्यापक मूल्यांकन की आवश्यकता होती है,जैसे चिकित्सीय, विकासात्मक,शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक आदि।आपको यहाँ

बता दें कि ADHD के निदान हेतु निर्धारित मानदंड (DSM में प्रकाशित मानदंड)के अनुसार लक्षणों का मिलना अनिवार्य है।

1.कोन्नर्स रेटिंग स्केल(ConnersRatingScale)-यह ADHD का गहन मूल्यांकन करता है। इसके तीन रेटिंग स्केल उपलब्ध हैं-माता-पिता हेतु,शिक्षक हेतु और आत्मरिपोर्ट।लघु प्रारूप भी है।ADHD इंडेक्स बच्चों और किशोरों के बड़े समूह की स्क्रीनिंग में सहायक है।ग्लोबल इंडेक्स सामान्य विकृति का मापन करता है।यह उपचार व हस्तक्षेप के अनुश्रवण में सहायता करता है।

2.वेण्डरबिल्ट मूल्यांकन स्केल (VanderbiltAssessmentScale)-इसमें दो स्केल हैं,वेण्डरबिल्ट ADHDटीचर रेटिंग स्केल एवं वेण्डरबिल्ट ADHD पेरेंट रेटिंग स्केल।दोनों ADHD के लक्षणों के मूल्यांकन हेतु हैं।टीचर स्केल स्कूल संबंधी निष्पत्ति व लक्षणों को तथा पेरेंट स्केल स्कूल निष्प-त्तिव सामाजिक कार्यात्मकता से संबन्धित है।उच्च प्राप्तांक गंभीर लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं।

3.ADHD रेटिंग स्केल(ADHDRatingScale)-यह18 पदों का रेटिंग स्केल है,जो कि DSM मानदंड़ पर आधारित है।इसमें दो उपपरीक्षण हैं।अतिचंचलता/आवेगशीलता तथा ध्यान हीनता।यह 4 बिन्दु मापनी है।इसके माता-पिता/देखभाल करने वाले और शिक्षक हेतु अलग-अलग फार्म हैं।यह स्केल बच्चों और किशोरों की जाँच,मूल्यांकन व निदान और लक्षणों को चिहिन्त करता है।

4.कोनर्स-वेल्स किशोर स्व-मूल्यांकन स्केल-यह किशोरों हेतु स्व-रिपोर्ट रेटिंग स्केल है। यह ADHD की स्क्रीनिंग हेतु न की निदान के लिए परीक्षण है।

तुरतसिंड्रोम (Tourette'sSyndrome)

इसे अन्य नाम जैसे "गिल्स डी ला तुरत सिंड्रोम" (GillesdelaTourette'sSyndrome)से भी जाना जाता है। यह आनुवांशिक तंत्रिका सम्बन्धी विकार(NeurologicalDisorder)है,जो बचपन से आरम्भ होता है।इस विकार में बच्चे में बहु शारीरिक फड़कन(Tics/Twitching)तथा वाणी(Vocal/Phonic)होती रहती है।इसका कारण अज्ञात है,परन्तु कारणों में आनुवांशिक व वातावरण दोनों शामिल हैं।टिक(Tic)एक अचानक उत्पन्न होने वाली फड़कन या गति(Move-ment)और ध्वनि (Sound)है,जो बच्चे द्वारा अनैच्छिक रूप से की जाती है।बच्चा इन्हें चाह कर भी नियंत्रित नहीं कर सकता।बच्चे में गतिकीय व ध्वनि टिक दोनों होते हैं।गतिकीय टिक्स जैसे आंख टिमटिमाना या झपकाना(Blinking)कन्धों को सिकोड़ना(Shrugging)आदि होता है।ध्वनि या वाणी सम्बन्धी टिक्स में बार -बार गला साफ करना तथा चिल्लाने की आवाज आदि होते हैं।दोनों प्रकार के टिक्स एक साथ या अलग-अलग प्रतिदिन कम या ज्यादा होते रहते हैं।यह स्थिति लगभग 1 वर्ष से होती है,और ये लक्षण 18 वर्ष से पूर्व आरंभ हों।यह लक्षण किसी दवा या नशीले पदार्थ तथा किसी अन्य चिकित्सीय कारणों जैसे दौरे व हनींगटोन रोग द्वारा ना हों।

7.4 खंड दो

7.4.1 सीखना विकार (Learning Disorder)

आपने अक्सर देखा होगा कि कुछ बच्चे व्यवहारिक कार्यों में जैसे खेलना,घर के कार्यों में अच्छे होते हैं,परंतु पढ़ाई में नहीं।इसका कारण कभी-कभी उनमें सीखना विकार के कारण होता है। सीखना विकार एक नुयूरोलाजिकल व शैक्षणिक विकार है,इसमें बच्चा पढ़ने,लिखने की अभि- व्यक्ति और गणितीय क्षमताओं में अपनी बौद्धिक क्षमता की तुलना में पीछे होता है।यह 5% स्कूली बच्चों में होता है।सीखना विकार में बहुत सी सीखने की समस्याएँ शामिल होती हैं।यह समस्याएँ बुद्धि अथवा अभिप्रेरणा की कमी से नहीं होती हैं।बच्चों को पढ़ने,लिखने अथवा गणि- तीय समस्याएँ हल करने में कठिनाई होती है।पढ़ने की समस्या को "डिसलेक्सीया" (Dyslexia), गणितीय समस्या को हल करने की समस्या को "डिसकेलकुलिया" (Dyscalculia)तथा लिखने की समस्या को "डिसग्राफिया" (Dysgraphia)कहते हैं।

इन बच्चों के निदान के लिए मनोशैक्षिणीक(Psycho-educational)मूल्यांकन आवश्यक होताहै। सीखना विकार का निदान मनोचिकित्सक,स्कूल मनोवैज्ञानिक,नैदानिक मनोवैज्ञानिक,परामर्श मनो वैज्ञानिक,स्कूल काउंसलर और नुयूरोमनोवैज्ञानिक द्वारा किया जाता है।इसके लिए मानकीकृत बुद्धि परीक्षण,शैक्षणिक उपलब्धि परीक्षण,अभिक्षमता परीक्षण,कक्षा में निष्पत्ति तथा नैदानिक परीक्षण माला जिसमें मानकीकृत स्पेलिंग परीक्षण,लेखन परीक्षण,डिजाइन अनुकरण(DesignCopying)वाचिक या मौखिक भाषा का उपयोग आदि होते हैं।इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षण,स्मृति, संज्ञान,ध्यान और भाषाई क्षमता का मापन भी किया जाता है।प्राप्त परिणामों के आधार पर देखा जाता है,कि बच्चे की शैक्षिक उपलब्धि उसके बौद्धिक स्तर की है,या उससे निम्न स्तर की है। अगर बौद्धिक क्षमता शैक्षिक उपलब्धि से बहुत अधिक होती है,तो बच्चे में लर्निंग डिसऑर्डर होने की पुष्टि होती है।इस विकार के साथ अन्य विकार उपस्थित होते हैं।जैसे-अर्थपूर्ण भाषा विकार तथा लिखित भाषा विकार आदि।मूल्यांकन एक व्यक्ति अथवा विशेषज्ञों की टीम द्वारा किया जाता है।सीखना विकार की पहचान व निदान हेतु कोई एकल परीक्षण नहीं है।इसके लक्षण एक बच्चे से दूसरे बच्चे में अलग हो सकते हैं।कुछ स्थितियों में इसके लक्षण छुपे हुये तथा कुछ स्थितियों में प्रत्यक्ष हो सकते हैं।लर्निंग डिसऑर्डर की पहचान हेतु बच्चे के गुणों(Strenths)और दुर्बलता(Weakness)को भी चिंन्हित करना होता है।

आपको हैरानी होगी कि,लगभग 100 से अधिक विभिन्न प्रकार के स्क्रीनिंग तथा नैदानिक परीक्षण उपलब्ध हैं,जो कि विशेष शिक्षक(specialeducator),मनोवैज्ञानिकों और स्कूल काउन्स- लर द्वारा उपयोग में लाये जाते हैं।परीक्षण छोटे बच्चों, किशोरों व व्यस्क व्यक्तियों को ध्यान में रख कर बनाए व मानकीकृत किए गए हैं।परीक्षण परिणाम बच्चे को राज्य एवं स्थानीय शैक्षिक सेवाओं,कॉलेज व यूनिवरसिटी सपोर्ट सेवाओं(SupportServices)के लिए पात्रता प्रदान करते हैं।मूल्यांकन परीक्षण शैक्षिक सेवाओं की सहायता के लिए भी आधार प्रदान करते हैं।सीखना विकार के अंतर्गत निम्न विकार सम्मलित हैं -

- *पठन विकार (ReadingDisorder)*
- *लेखन विकार (DisorderofWrittenExpression)*
- *गणितीय विकार (MathematicsDisorder)*

7.4.1 a.पठन विकार (ReadingDisorder)

सीखना विकार में लगभग 75%बच्चे पठन विकार से समस्याग्रस्त होते हैं।इसमें बच्चे की पढ़ने की उपलब्धि बच्चे की आयु, शिक्षा व बुद्धि की तुलना में निम्न स्तर की होती है।धीमा और अशुद्ध पठन,ख़राब बोधगम्यता आदि इसके प्रमुख लक्षण हैं।ध्यान हीनता एवं अतिचंचलता (ADHD)विकार में इसका जोख़िम अधिक होता है।इसे "डिसलेक्सिया" (Dyslexia)तथा "रिडिंग डिस्एबिलिटी सिंड्रोम" भी कहा जाता है।25% बच्चों में पढ़ने के विकार के साथ ADHD भी होता है।शोध अध्ययनों के अनुसार ADHD और पढ़ने का विकार दोनों ही आनुवांशिक रूप से स्थानांतरित होते हैं।इन बच्चों में विषाद एवं चिन्ता का स्तर अन्य सामान्य बच्चों की तुलना में अधिक होता है।स्क्रीनिंग और मूल्यांकन परीक्षणों के अतिरिक्त DSM विभेदीकरण निदान (DifferentialDiagnosis)से भी इन का निदान संभव है।

सात वर्ष की आयु तथा कक्षा 2 तक इसे पहचान लिया जाता है।इन बच्चों को मौखिक पठन (वाचन)में कठिनाई होती है।पढ़ते समय अत्यधिक गलतियां करते हैं,जैसे शब्दों को विकृत करना, शब्दों को पढ़ते हुए छोड़ देना(Omission)और अन्य शब्द को जोड़ना आदि ।इन बच्चों को भाषा की कठिनाई,ध्वनि विभेदीकरण तथा शब्दों के क्रम को लेकर कठिनाई होती है।बच्चे में निम्न प्रकार की पढ़ने की अशुद्धियां व व्यवहार दृष्टिगत होता है-

- *पढ़ते समय सांवेगिक तनाव तथा तनाव पूर्ण उच्चस्वर से पठन।*
- *एक ही स्वर में पढ़ना(Monotonoustone)।पढ़ते हुए आवाज अत्यधिक ऊँची या धीमी।*
- *शब्द अलग-अलग करके पढ़ना तथा धाराप्रवाहिता की कमी।*
- *पढ़ने में असहजता या पढ़ने को मना करना।*
- *गलत उच्चारण और शब्दों को बार-बार दोहराना।*
- *विराम चिह्नों की उपेक्षा करना और अनावश्यक रूप से शब्दों को बदलना व जोड़ना ।*
- *मौखिक पठन की दर कम होना (LowReadingRate)*
- *पढ़ने की गति में लचीलापन ना होना तथा पढ़ते हुए अँगुली रख कर पढ़ना।*

पठन विकार की पहचान हेतु निम्न औपचारिक परीक्षण उपयोगी हैं -

1. *वूड्कौक जॉनसन साइकोएजूकेशनल परीक्षण माला का उपपरीक्षण(SubtestofWoodcockJohnsonPsycho-EducationalBattery)*
2. *वेश्लर व्यक्तिगत उपलब्धि परीक्षण का उपपरीक्षण(SubtestofWechslerIndividualAchievementTest)*
3. *वूड्कौक पठन प्रवीनता परीक्षण(WoodcockReadingMasteryTest)*
4. *ग्रे मौखिक पठन परीक्षण (GreyOralReadingTest)*
5. *कोंप्रहेन्सिव टेस्ट ऑफ फोनोलोजिकल प्रोसेसिंग(ComprehensiveTestofPhonologicalProcessing)*
6. *शब्द पठन दक्षता परीक्षण(TestofWordReadingEfficiency)*

7. *पीबाडी व्यक्तिगत उपलब्धि परीक्षण(PeabodyIndividualAchievementTest)*
8. *डूरेल पठन कठिनाई विश्लेषण परीक्षण(DurrellAnalysisofReadingDifficulty)*

इन परीक्षणों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षक स्वयं अनौपचारिक परीक्षण बना सकते हैं। जिसमें निम्न बिन्दु सम्मिलित हों जैसे-शब्द पहचान,वाचिक व शांत संदर्भ पठन(Oral/SilentContextualReading),मौखिक एवं शान्त पठन बोधगम्यता(ReadingComprehension)और सुनने की बोधगम्यता(ListeningComprehension)।

7.4.1 b लेखन विकार (WrittenDisorder)

लेखन में विविध दक्षताएं सम्मलित होती हैं,जैसे-भाषा अभिव्यक्ति,वर्तनी,पठन,दृष्टि-गतिकीय समन्वयन कौशल(Visual-MotorIntegrationSkills)आदि।लेखन कौशल विद्यालयी सफलता हेतु अहम और अनिवार्य है।चिंतन और विचारों को लिखित रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाना ही लेखन विकार का मुख्य लक्षण है। औपचारिक मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित परीक्षण हैं-

1.पीबाडी व्यक्तिगत उपलब्धि परीक्षण(PeabodyIndividualAchievementTest,Dunn&Markwaredi)कक्षा 1 से 12तक।यह परीक्षण व्यक्तिगत रूप से प्रशासित किया जाता है। यह कक्षा अनुसार वर्तनी क्षमता के मानक उपलब्ध कराता है ।

2.वाइड रेंज उपलब्धि परीक्षण, जसटेक एवं जसटेक(WideRangeAchievementTest)-कक्षा 1 से वयस्क।इस समूह परीक्षण से सामान्य वर्तनी समस्याओं का मूल्याँकन (estimate) कर सकते हैं। यह परीक्षण ग्रेड प्रदान करता है।

3.स्कोनल ग्रेडेड शब्द-वर्तनी परीक्षण,ओलिवर एवं बोयाड(Schonel Gradaed Word Spelling Tests,Oliver& Boyd)-यह परीक्षण व्यक्तिगत एवं समूह दोनों तरह से प्रशासित किया जा सकता है।

4.कोत्तसमेयर गल्ती विश्लेषण चेकलिस्ट(KottsmeyerErrorAnalysisChecklist)-यह एक अनौपचारिक नैदानिक परीक्षण है,यह परीक्षण गलतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।इसे प्रशासित करना व व्याख्या करना बहुत सरल है।

अनौपचारिक मूल्यांकन(InformalAssessment)के अंतरगत अवलोकन विश्लेषण (ObservationalAnalysis)विधि अपनाई जाती है।शिक्षक दैनिक कक्षा शिक्षण में विद्यार्थी का अवलोकन करता है।यह अनौपचारिक मूल्यांकन का बहुत महत्वपूर्ण भाग है।शिक्षक विद्यार्थी के लिखित काम का विश्लेषण जैसे-उसकी सुपाठ्यता(Legibility),शब्दावली उपयोग का विस्तार (RangeofVocabularyUsed),वर्तनी के नियमों की जानकारी आदि का विश्लेषण कर सकता है।इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक अनौपचारिक मूल्यांकन द्वारा भी लेखन समस्याओं की जाँच कर सकता है।जैसे लिखित कार्यों में वर्तनी अशुद्धियां,उच्चारण संबंधी वर्तनी अशुद्धियां,अक्षरों के क्रम को बदलना(reversalofletters),वर्तनी नियमों का अभाव और खराब लिखावट आदि।

7.4.1c गणितीय विकार (Mathematics Disorder)

यहाँ आप यह अध्ययन करेगें कि गणितीय विकार में बच्चे को गणितीय कार्यों को करने में किस प्रकार की कठिनाइयाँ होती हैं।इसमें बच्चे की गणितीय कठिनाईयां कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से नजर नहीं आती हैं।इसके लिए बच्चों को परीक्षणों और कक्षा शिक्षण के दौरान अवलोकन किया जाता है।इन बच्चों को निम्न गणितीय सम्प्रत्यों को समझने में परेशानी आती हैं-

1.गणितीय संक्रियाओं को करने में परेशानी या अक्षमता।
2.स्थानीयमान को समझने में कठिनाई और स्थानिक संबंधो को समझने में कठिनाई।
3.अंतनिहित गणितीय नियमों जैसे, क्रम,संग्रहण(conservation) आदि में कठिनाई।
4.संख्याओं को याद रखने में और आकड़ों से निष्कर्ष निकालने में परेशानी। ।
5.गणितीय कार्यों के प्रति अभिवृत्ति एवं अभिप्रेरणा में कमी।
6.गणितीय कार्यो में असफलता के कारण आत्म-सम्प्रत्यय में कमी।
औपचारिक परीक्षण
1.वाइड रेंज उपलब्धि परीक्षण, जसटेक एवं जसटेक (WideRangeAchievementTestJastakandJastak)- 5 वर्ष से वयस्क तक की गणितीय क्षमताओं का मापन करता है।
2.की गणित नैदानिक मूल्यांकन, कोनल्ली व नचत्मन(KeyMathDiagnosticAssessment,ConnollyandNachtman)-यह परीक्षण कक्षा 1 से 8 तक के बच्चों पर व्यक्तिगत रूप से प्रशासित किया जाता है।इसमें 14 उपपरीक्षण हैं,जो 3 क्षेत्रों में बंटे होते हैं।अंतर्वस्तु (Content), संचालन(Operations)एवं प्रयोग(Application)।

3.स्टेनफोर्ड गणितीय क्रम में उपलब्धि,केली व अन्य(StanfordAchievementSeriesinArithmetic,Kelleyet.al.)-(कक्षा 1 से 10)समूह एवं व्यक्तिगत रूप में प्रशासित किया जाता है।परम्परागत गणितीय संप्रत्तयों और परिकलन(computational)कौशलों का मापन करता है।

4.उपलब्धि एवं प्रवीनता परीक्षण (TheTestofAchievementandProficiency)-हाईस्कूल तक। व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से प्रशासित यह परीक्षण गणितीय नियमों और दैनिक जीवन में गणित के उपयोग का मापन करता है।
5.मोनरो शेरमेन समूह नैदानिक पठन अभिक्षमता एवं उपलब्धि परीक्षण(MonroeShermanGroupDiagnosticReadingAptitudeandAchievementTests)-8 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए उपयोगी सामूहिक परीक्षण है।गणितीय कौशलों का मापन करता है।

6.नैदानिक गणितीय तरीके परीक्षण,गिन्सबर्ग(DiagnosticTestofArithmeticStrategies,Ginsburg)-कक्षा 1 से 6 तक।समूह व व्यक्तिगत रूप से प्रशासित होता है।यह बच्चे किस प्रकार गणितीय गणनाएं करते हैं,उसकी जानकारी देता है।परीक्षण परिणामों की व्याख्या तथा उपचारात्मक निर्देश भी उपलब्ध कराता है।

7.मेट्रोपोलिटन गणितीय उपलब्धि परीक्षण,दुरास्ट(MetropolitanAchievementTestsArithmetic,Durost,et.al.)-कक्षा 3 से 9 तक व्यतिगत एवं सामूहिक रूप से उपयोग किया जा सकता है।परिकलन कौशलों और समस्या समाधान कौशलों का मापन करता है।

आपको बता दें कि, सीखना विकार के भी अन्य बहुत से परीक्षण हैं,जिनका उपयोग मनोवैज्ञानिक कर सकता है।साथ ही अन्य मूल्यांकन परीक्षणों जैसे बुद्धि, न्यूरोमनोवैज्ञानिक, ध्यान, और एकाग्रता आदि परीक्षणों को भी प्रशासित करना होता है।

7.4.3 भाषा विकार (LanguageDisorders)

भाषा विकार, में विचारों को प्रकट करने और समझने दोनों भाषा प्रभावित होती हैं।यह अन्य किसी विकासात्मक विकार,मस्तिष्क आघात एवं श्रवण शक्ति के खत्म होने के कारण नहीं होता है।भाषा विकार में दोनों भाषा,बोलने की भाषा एवं लिखित दोनों प्रभावित होते हैं,साथ ही सांकेतिक भाषा भी प्रभावित होती है।भाषा विकारों में बच्चा अपनी उम्र के अनुरूप भाषा को समझ और बोल(दोनों वाचिक और लिखित)नहीं पाता है।इसके अंतर्गत निम्न विकार आते हैं-

(1)ग्रहणशील भाषा विकार(ReceptiveLanguageDisorder)-इसमें बच्चा दूसरे की भाषा को नहीं समझ पाता या उसका अर्थ नहीं समझ पाता।ग्रहणशील भाषा विकार 4 वर्ष की उम्र से पूर्व उत्पन्न होता है।वाचिक(मौखिक)एवं लिखित दोनों भाषा को समझना प्रभावित होता है।बच्चे को निर्देशों का पालन करने,शब्दों और वाक्यों को समझने,सवालों के जवाब देने में कठिनाई होती है।

(2)अर्थपूर्ण भाषा विकार(ExpressiveLanguageDisorder)-इसे अन्य नामों जैसे "अभिवयक्त भाषा विकार", "स्पेसिफिक डवलपमेंटल लंगवेज डिसऑर्डर" आदि से भी जाना जाता है।इस विकार में बच्चा अपने विचारों और भावनाओं को शब्दों में अर्थपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। अर्थपूर्ण भाषा विकार में भाषा उत्पादन कौशल(LanguageProductionSkills)सामान्य आयु से नीचे के स्तर के होते हैं।भाषा के गठन और बोलने दोनों में परेशानी दृष्टिगत होती है,जैसे-कमजोर या सीमित शब्दावली,शब्द खोज कठिनाइयाँ,खराब कथा-कौशल(NarrativeSkills/storytelling) , जटिल व लंबे वाक्यों को बोलने में कठिनाई और व्याकरण की त्रुटियाँ शामिल हैं।यह लिखित और वाचिक दोनों भाषा को प्रभावित करता है।यह समस्या कैसे बोलना या ध्वनि संबंधी न होकर क्या बोलना से जुड़ी होती है।मूल्यांकन उम्र के आधार पर भिन्न हो सकता है।पूर्व स्कूली बच्चों के लिए खेलने के व्यवहार,माता-पिता व भाई बहन के साथ बातचीत,बच्चे के सामाजिक,संज्ञानात्मक विकास के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी जरूरी है।कक्षा कौशलों का भी मूल्यांकन किया जाता है।शब्दहीन चित्र पुस्तक का उपयोग कर कहानी बनाने द्वारा मूल्यांकन किया जाता है।स्कूल उम्र के बच्चे के लिए भाषा चिकित्सक के साथ ही नहीं,बल्कि अन्य स्थि- तियों और कक्षा में भाषा का मूल्यांकन किया जाता है।मूल्यांकन निम्न प्रकार से होता है-

1.भाषा प्रतिदर्श विश्लेषण(LanguageSampleAnalysis)-इसमें वास्तविक वातावरण में बच्चे के सम्प्रेषण कौशलों का परीक्षण किया जाता है-जैसे खेल,कक्षा,साथियों आदि के साथ।

2.डायनिमिक मूल्यांकन/प्रत्यक्ष अवलोकन-इसमें भाषा का अलग-अलग स्थिति में अवलोकन होता है।इसमें भाषा उत्पादन, आवाज़ प्रवाह,और वाचिक सम्प्रेषण का मापन शामिल है।इसके साथ ही बच्चे की दूसरे लोगों के साथ बात चीत,अन्य लोगों की बातों को समझना,हाव-भाव,मुखीय भावभिव्यक्ति आदि शामिल होता है।

(3).चिल्ड्रन कम्यूनिकेशन चेकलिस्ट-2(Children'sCommunicationChecklist-2)-यह भाषा विकारों के स्क्रीनिंग के लिए उपयोगी है।यह समस्या के प्रकार की पहचान करती है।

(4)माता-पिता,देख रेख करने वाले और अध्यापक से बच्चे की भाषा संबंधी सूचनाएँ एकत्र करना जैसे-बच्चे के विशिष्ट सम्प्रेषण के उदाहरण(Anecdotes),निर्देशों का पालन,कहानी को क्रमबद्ध सुनाना,पुरानी किसी घटना का संगठित वर्णन आदि।इसके लिए माता-पिता,देख रेख करने वालों का एक मानकीकृत साक्षात्कार जैसे विनलैंड अनुकूली व्यवहार द्वारा लिया जाता है।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत बुद्धि परीक्षण,व्यक्तिगत उपलब्धि परीक्षण,अनुकूली व्यवहार परीक्षण, बच्चे कि भाषा के वास्तविक जीवन के भाषा संबंधी उदाहरण,भाषा परीक्षण(जैसे-उच्चारण,स्वर संबंधी परीक्षण,मुखीय-मांसपेशीय परीक्षण आदि) तथा प्रत्यक्ष अवलोकन का उपयोग होता है।

उपरोक्त वर्णित सभी विकासात्मक विकारों,सीखना विकारों एवं भाषा विकारों में मात्र एक परीक्षण या एक प्रविधि को पूर्ण नहीं माना जाता है।एक वैध और विश्वसनीय मूल्यांकन हेतु मानकीकृत परीक्षणों,स्थितिजन्य अवलोकन,माता-पिता का साक्षात्कार,पेरेंट रिपोर्ट,टीचर रिपोर्ट तथा अन्य रेफेरल प्रॉफेश्नल द्वारा दी गई सूचनाओं को समग्र रूप से विश्लेषित किया जाना आवश्यक है।

7.6 सारांश –

स्क्रीनिंग बच्चों के विकास में सुधार हेतु महत्वपूर्ण है।यह विकलांगता एवं विकासात्मक समस्या का निदान नहीं करती,बल्कि आगे के मूल्यांकन का सुझाव देती है।प्रथम चरण में स्क्रीनिंग होती है,तथा दितीय चरण में व्यापक मूल्यांकन होता है।APA के नैदानिक और सांखियकीय मैनुयल में व्यापक विकासात्मक विकारों को अलग श्रेणी में शामिल किया गया है।विकासात्मक विकारों में शामिल ऑटिज्म सहित अन्य सामाजिक, संज्ञानात्मक,भावात्मक व भाषागत असामान्यता से संबन्धित विकार सम्मिलित हैं।जैसे-एसपरजर सिंड्रोम,रेटस विकार,चाईल्डहुड डिसइंटीग्रेटीव दिसऑर्डर,आदि।इसके अतिरिक्त मानसिक मंदता और ADHD।सीखना विकार शैक्षणिक व न्यूरोलोजिकल विकार है।बच्चा पढ़ने,लिखने की अभिव्यक्ति और गणितीय क्षमताओं में अपनी बौद्धिक क्षमता से पीछे रह जाता है।भाषा विकार बच्चे में बच्चे की बोलने की और समझने की भाषा प्रभावित होती है।कोई भी एक साधन या परीक्षण निदान व व्यवहारात्मक वर्णन के लिए संपूर्ण नहीं है।इसलिए चिकित्सकों को एक विशिष्ट उददेश को पूरा करने के लिए मनोमितीय (Psycho-metrically)दृष्टि से उचित परीक्षण को तथा उसकी सीमा को ध्यान में रख कर चयन करना चाहिए।

7.7 शब्दावली

(1)<u>मानक</u>-किसी समूह विशेष द्वारा प्राप्त प्राप्तांक(2)<u>विभदीकरण निदान-</u> एक अंतर-सम्बंधी या भेदकीय पहचान हेतु DSM दिये गए बिन्दु जिससे विभिन्न विकारों के बीच अंतर किया जा सके(3)<u>प्रसार-</u>किसी निश्चित

समय,निश्चित जनसंख्या,निश्चित विशेषताओं(आयु, लिंग आदि)व स्थान पर(नए व पुराने)मामलों की संख्या या गणना(counts)

7.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.Mentally Retardation:A Manual for Psychologists.National Institute for the Mentally Handicapped,Manovikas Nagar,Secundrabad.

2.Understanding Developmental Language Disorders from theory to Practice.Taylor & Francis,2008.

3.EducatingChildrenwithLearning Problems in Primary Schools.Resourse Book for Teachers,National Institute for the Mentally Handicapped,(NIMH),2008.

7.9 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

-http://www.asha.org/students/professionals/overview/sld.htm

-http://www.nichcy.org/pubs/genresc/gr3htm#categoris

-www.add.org,

-www.chadd.org

7.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्क्रीनिंग एवं मूल्यांकन परीक्षण क्या होते हैं? उनकी उपयोगिता बताइए।

2. विकासात्मक विकारों के प्रकारों उनकी प्रकृति एवं मूल्यांकन प्रविधियों पर प्रकाश डालिए।

3. भाषा विकारों को श्रेणीबद्ध करते हुए उनकी विशेषताओं को बताइए।

4. लर्निंग डिसऑर्डर से संबन्धित परीक्षणों को सूचीबद्ध कीजिए।

इकाई 8.किशोरावस्था की विशेषताएँ, किशोरावस्था में शारीरिक विकास एवं समायोजन (Characteristics of, Physical Development and Adjustment in Adolescence)

इकाई संरचना–

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 किशोरावस्था में विशेषताएँ

8.3 किशोरावस्था में शारीरिक विकास

8.4 किशोरावस्था में समायोजन

8.5 सारांश

8.6 शब्दावली

8.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न एवं उनके उत्तर

8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

विकासात्मक मनोविज्ञान मानव की व्यवहारगत विशेषताओं का नियमित अध्ययन करने वाला विज्ञान माना जाता है। विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत प्राणी के जीवन काल में होने वाले सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं एवं व्यवहारों के विकास का अध्ययन विकासात्मक दृष्टिकोण से किया जाता है। प्राणी का विकास जन्म से पूर्व गर्भाधान के समय से ही हो जाता है। विकासात्मक मनोवैज्ञानिकों ने मानव के सम्पूर्ण विकास काल में होने वाले परिवर्तनों को आधार बनाकर इसको कई भागों में बाँटा है, उसी में से एक अवस्था है किशोरावस्था। किशोरावस्था बाल्यकाल की अन्तिम अवस्था होती है, सम्पूर्ण बाल विकास में इस अवस्था का विशेष महत्व है। किशोरावस्था अक्सर 13 वें वर्ष से प्रारम्भ होकर 20 वर्ष तक चलती है। इसके बाद प्रौढ़ावस्था या परिपक्वता की अवस्था प्रारम्भ होती है। चूँकि यह अवस्था एक लम्बेकाल तक रहती है, जिसमें अनेक प्रमुख परिवर्तन उत्पन्न होते हैं जिसपर विस्तृत दृष्टि डालना आवश्यक है।

किशोरावस्था की अनेक विशेषताएँ होती हैं। इसे हम जीवन की सुनहरी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में अन्य दो प्रमुख विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। वे हैं– सामाजिकता और कामुकता। इन्हीं से सबन्धित अनेक परिवर्तन इस अवस्था में उत्पन्न होते हैं। यह अवस्था कई दृष्टियों से शारीरिक और मानसिक उथल–पुथल से परिपूर्ण होती है। इस अवस्था विशेष में किशोर स्वभाव से भावुक होने के कारण न तो अपना शारीरिक और न मानसिक समायोजन समुचित रूप से स्थापित कर पाते हैं। अतः उन्हें शिशु की तरह अपने वातावरण के साथ नवीन समायोजन प्रारम्भ करना पड़ता है। इसलिये किशोरावस्था कल्पना एवं समस्या बाहुल्य की अवस्था मानी जाती है। किशोर बालक और बालिका में घोर शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होते हैं जिसके कारण उनके संवेगात्मक, सामाजिक और नैतिक जीवन का स्वरूप ही बदल जाता है। किशोरावस्था को उमंग एवं आनन्द की अवस्था, जीवन की सुनहरी अवस्था, तो कोई उसे जीवन का बसंत समझता है।

8.1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि–

- किशोरावस्था की क्या विशेषताएं हैं ?
- किशोरावस्था में शारीरिक विकास कैसे होता है ?
- किशोरावस्था में कैसे समायोजन किशोर स्थापित करता है ?

8.2 किशोरावस्था में विशेषताएं

किशोरों के भीतर विशेष रूप से शारीरिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा मनासिक चार प्रकार के परिवर्तन दिखाई देते हैं। इस अवस्था में पहुँचकर बालक तेजी से विकास की पूर्णता की ओर बढ़ने लगता है। किशोरावस्था में बालक प्रौढ़ता की ओर उन्मुख होता है। देखते ही देखते वह बाल्यावस्था से निकलकर परिपक्वता की अवस्था में प्रवेश करने लगता है। यह अवस्था विशेषकर 13–20 वर्ष तक मानी जती है। इस अवस्था में बालक शारीरिक और मानसिक दृष्टि से तो परिपक्व होने ही लगता है, लेकिन उसे इस अवस्था में वैचारिक परिपक्वता भी प्राप्त हो जाती है। किशोर तथा किशोरियों के भीतर यौन संबंधी विशेषताएँ और संबधित मानसिक, सावेगिक तथा शारीरिक लक्षण इस अवस्था के प्रमुख विशेषताएँ माने जाते हैं। कामुकता इस अवस्था की मूलभूत समस्या होती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किशोरावस्था विकासात्मक अवस्थाओं का अन्तिम चरण है। इस अवस्था में पहुँच कर वह विभिन्न दृष्टियों से परिपक्व व्यक्ति बन जाता है।

8.2.1 किशोरावस्था की विशेषताएँ

(1) संक्रमण अवधि

इस अवस्था को संक्रमण अवधि के नाम से जाना जाता है। इस अवधि में बालक दो स्थिति के बीच होता है। इसलिये उसकी स्थिति स्पष्ट नहीं होती है। वह अपने आप में अपनी भूमिका निर्वाह को लेकर असमंजस में होता है। इस अवस्था में किशोर यह सोचते हैं कि वे क्या हैं और उनकी भूमिका क्या है ? इसमें उसे ''अहम् तादात्म्य (Problem of ego identity)'' की समस्या का सामना करना पड़ता है और उस समय वह Idenntity crisis तादात्म्य संकट के बीच अपने आपको पाता है। उसे पहले की अवस्था में किये जाने वाले व्यवहार को छोड़कर नए परिवेश तथा स्थिति के अनुसार नवीन व्यवहार को करना सीखना पड़ता है।

(2) किशोरावस्था शैशव की पुनरावृत्ति होती है

इस अवस्था का गहन अध्ययन करने पर पता चलता है कि इसके कई व्यवहार शैशवास्था में होने वाले व्यवहारों से मिलते जुलते हैं। इस लिये डा0 जोन्स ने इसे शैशव की पुनरावृत्ति कहा है। चूँकि इस अवस्था में किशोर में स्थिरता और शान्ति तो दिखाई नहीं पड़ती है और यह अस्थिरता और अशान्ति का व्यवहार उसका शैशवकाल में भी रहता है, इसलिये इसी व्यवहार के उत्पन्न होने के कारण इसे शैशवावस्था की पुनरावृत्ति भी कहा जाता है। किशोर जो भी बात करता है या जो भी व्यवहार करता है वह कभी–कभी इतना अस्पष्ट और निरपेक्ष लगता प्रतीत होता है कि शैशवकाल की भांति व्यवहार कर रहा है। उसकी बातें कभी–कभी भोली लगती हैं और कार्य भी उद्देश्यहीन और निरर्थक लगते हैं। वह एक असंमजस की स्थिति में होता हैं। इसी कारण इस अवस्था को शैशवकाल की पुनरावृत्ति कहते हैं।

(3) परिवर्तन की अवधि

किशोरावस्था में किशोर के अन्दर विभिन्न प्रकार के शारीरिक, सामाजिक और व्यावहारिक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। प्रारम्भ में किशोरों में तीव्रगति से शारीरिक परिवर्तन होते हैं और उतनी ही तीव्र गति से अभिवृत्तियों और व्यवहारों में भी परिवर्तन होते हैं। टैनर के अनुसार–वृद्धि एवं विकास के दृष्टिकोण से बारह से सोलह वर्ष के बीच का समय परिवर्तनों का समय है। इस अवस्था में किशोरों में जो परिवर्तन होते हैं उनमें चार का विशेष महत्व है (Luchins 1954)।

(1) संवेगात्मक अस्थिरता में वृद्धि एवं पुराने तथा नवीन मूल्यों में द्वन्द्व।
(2) विपरीत लिंग के लोंगों के साथ समायोजन की समस्या।
(3) नवीन प्रत्याशाएँ तथा उनकी पूर्ति न होने पर तनाव में वृद्धि।
(4) नवीन रूरूियों तथा प्रौढ़ों जैसा व्यवहार सीखने की आवश्यकता।

(4) संवेगात्मक अस्थिरता

इस अवस्था में संवेगात्मक अस्थिरता पाई जाती है। किशोर इस अवस्था में भावुक होता है और भावनाओं का प्रभाव उस पर अधिक पड़ता है तथा वह स्वयं भी भावपूर्ण होता है। उसके संवेगों में स्थिरता नहीं रह पाती है। एक क्षण वह उमंग से भर उठता है और दूसरी तरफ वह दूसरे ही क्षण उदासीनता के सागर में डूब जाता है। कभी–कभी वह किसी पर इतना विश्वास कर बैठता है कि वह उसका विश्वास पात्र मित्र हो जाता है और कभी ऐसा होता है कि उसके ऊपर से विश्वास खो बैठता है। किशोर की रूचियों, मनोवृत्तियों और इच्छाओं में भी तेजी से परिवर्तन होने लगते हैं। चूँकि किशोर का पैमाना बढ़ने लगता है और उनपर कई प्रकार से प्रभाव पड़ने लगता है जिससे उसके सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों में दृढ़ता नहीं आ पाती है। किशोर के विचार और निर्णय भी अस्थिर हो जाते हैं और इतनी अस्थिरता का कारण यह होता है कि उसकी इच्छायें अधूरी रह

जाती हैं तथा मनोनुकूल परिस्थितियों में भी नहीं पूर्ण होती हैं। वह मुख्य रूप से आदर्शवादी होता है। वह अक्सर ही कल्पनाओं में खो जाता है। परन्तु उसे वास्तविकता में लौटना ही पड़ता है। निराशाओं और जटिलताओं का सामना करना ही पड़ता है। इस अवस्था में किशोरों का शिक्षकों, माता–पिता तथा मित्रों से मत भिन्न भी होने लगता है। हरलॉक इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुये कहता है कि –''Early adolescence is a period of 'storm and stress' This is a period of many frictions with parents, teachers and friends and the young adolescent experiences more emotiojnality than he did when he was younger. The adolescent is a difficult pesson to live or work with.''

(5) आशंका की अवधि

किशोरों में इस अवस्था में आशंकायें और भय जैसी स्थिति भी बनी रहती है। इस अवस्था में कभी–कभी उन्हें अपने माता–पिता की बातें अच्छी नहीं लगती हैं। उनकी बातों से वह सहमत नहीं होते हैं और सहमति न होने के कारण वह उनकी बातों को मानना भी नहीं चाहते हैं तथा माता–पिता को भी निराशा ही हाथ लगती है।

(6) अयथार्थता की अवधि

किशोरावस्था में यह भी देखने को मिलता है कि किशोर यथार्थवाद से परे होता है। इसीकारण उनमें तनाव, चिन्ता तथा संवेगात्मक स्थिति में वृद्धि भी पायी जाती है। किशोरों को यह लगने लगता है कि दूसरे उनकी उपेक्षा कर रहे हैं तो वह निराश और तनाव में हो जाते हैं और उनके अनुरूप भी यदि कोई कार्य नहीं होता है तो भी उनमें तनाव देखने को मिलता है। लेकिन ज्यों–ज्यों उनकी आयु और अनुभव बढ़ता है वे यथार्थ के करीब पहुँचते हैं और यथार्थवादी होते जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनका तनाव तथा उनकी निराशा भी कम होती जाती है। इस कारण उनका समायोजन बढ़ जाता है और वह अपने व्यवहार में परिवर्तन कर समायोजन में सफल होते है।

(7) प्रौढ़ावस्था की देहली

इसे प्रौढ़ावस्था की देहली भी कहा जाता है। किशोर जब प्रौढ़ होता है तब यह समझने लगता है कि अब उसे व्यवहार में परिवर्तन करना चाहिए और कपड़े पहनने तथा व्यवहार शैली भी परिवर्तन करना चाहिये। उसे प्रौढ़ों की तरह धूम्रपान, शराब पीना, लैंगिक क्रियाओं में रूचि लेना तथा समूह में एक सक्रिय भमिका में होना इत्यादि भी करना चाहिये। जिससे प्रतीत हो कि वह भी प्रौढ़ों की भाँति ही हर क्रिया–कलाप कर रहा है और उसमें भाग ले रहा है। जिससे यह वह स्पष्ट होता है कि किशोरावस्था, प्रौढावस्था की देहली है।

(8) समस्याओं की बहुलता

किशोरावस्था की अवस्था को समस्या बाहुल्य की अवस्था भी कहा जाता है। वैसे हर अवस्था की अपनी समस्याएं होती हैं। लेकिन किशोर और किशोरी के लिये इस अवस्थाओं में ज्यादा समस्याएँ होती हैं। इसके दो कारण हैं। पहला—पूरे बाल्यावस्था में उनकी जो भी समस्याएं होती थीं उनका समाधान हो जाता था, उनके माता—पिता और अध्यापकों द्वारा। लेकिन किशोरावस्था में उनकी अपनी समस्याओं के साथ अकेले लड़ने का अनुभव नहीं होता है। दूसरा—वह यह महसूस करना चाहते हैं कि वह स्वतन्त्र हैं। वह अपनी समस्याओं का समाधान अपने माता—पिता और शिक्षकों की सहायता के बिना करना चाहते हैं। जिसके कारण उनमें संवेगात्मक तनाव और प्रतिबल बढ़ता है और समायोजन को बाधित करता है।

(9) काम चेतना

इस अवस्था में किशोर और किशोरी में एक दूसरे को अपनी तरफ आकर्षित करने की इच्छा प्रबल हो जाती है और वह अपने से विपरीत यौन के प्रति अधिक आकर्षित होते हैं तथा विपरीत लिंग के प्रति समायोजन की इच्छा भी बढ़ने लगती है एवं यह इच्छा तीव्र हो जाती है।

(10) तनाव तथा अशान्ति

इस अवस्था में किशोरों में अपने व्यवहार के कारण तनाव तथा अशान्ति लगातार बनी रहती है। अपनो कार्य तथा निर्णयों में बड़ों (शिक्षकों तथा माता—पिता) को शामिल न करने तथा लोगों से सहमति न होने पर उनमें तनाव तथा अशान्ति का स्तर उच्च रहता है। वह अनेक प्रकार का द्वन्द्व तथा विचारों में भिन्नताएँ प्रगट करते हैं। लेकिन समाजिक मूल्य वहाँ उन्हें बाधित करते हैं, जिससे उनमें तनाव में वृद्धि ही होती है। इसलिये किशोरावस्था को ''तूफान एवं प्रतिबल'' की भी अवस्था कहा जाता है।

8.3 किशोरावस्था में शारीरिक विकास या शारीरिक परिवर्तन

किशोरावस्था में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इन्हीं परिवर्तनों के कारण वह आगे चलकर प्रौढ़ों की तरह व्यवहार करना आरम्भ करता है और उसमें परिपक्वता आती है। किशोरावस्था में होने वाले परिवर्तनों में मुख्य परिवर्तन इस प्रकार हैं—

(1) शारीरिक परिवर्तन

वृद्धि न तो यौवनारम्भ में पूरी हो पाती है और न ही प्रारम्भिक किशोरावस्था तक। हालांकि इस वक्त में वृद्धि की प्रक्रिया बाह्य से ज्यादा आन्तरिक होती है। इस अवस्था में बाह्य परिवर्तनों से ज्यादा आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन होते हैं, जिन्हें आसानी से देखा नहीं जा सकता है। यौवनारम्भ के बाद किशोर और किशोरी के ऊँचाई में भी वृद्धि होती

है। लेकिन किशोर के ऊँचाई में वृद्धि किशोरी की अपेक्षा ज्यादा तेजी से होती है। किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तन इस प्रकार हैं–

<u>बाह्य परिवर्तन</u>

(1) ऊँचाई

औसत लड़कियां अपनी परिपक्व ऊंचाई 17–18 वर्ष के बीच प्राप्त करती हैं और लड़कों में यह परिपक्व ऊँचाई इसके 1 या 2 वर्ष बाद तक आती है।

(2) वजन

वजन में भी परिवर्तन पाया जाता है और यह वजन में परिवर्तन भी ऊँचाई में परिवर्तन के समान ही समय सारणी के अनुरूप होता है। शरीर के उस हिस्से का वजन जादा बढ़ता है जहाँ पर पहले कम या बिल्कुल भी वसा नहीं थी।

(3) शारीरिक अनुपात

शरीर के विभिन्न भाग धीरे–धीरे अपने अनुपात में आते हैं। उदाहरण स्वरूप–शरीर के हाथ–पैर के बजाय और हिस्से में जादा वृद्धि होती है।

(4) लैगिक ग्रन्थियाँ

किशोर और किशोरी की लैगिंक ग्रन्थियों का विकास उत्तर किशोरावस्था में पूर्ण हो जाता है। परन्तु कार्य के दृष्टिकोण से परिपक्वता कई वर्षों बाद ही आती है।

(5) गौण लैंगिक विशेषताएँ

गौण लैंगिक विशेषताओं का विकास और उनमें परिपक्वता उत्तर किशोरावस्था तक आ जाती है।

<u>आन्तरिक परिवर्तन</u>

(1) पाचन तन्त्र

इस अवस्था में आमाशय लम्बा तथा कम नलिकादार हो जाता है। ऑत की लम्बाई में भी वृद्धि होती है और उसकी परिधि में भी वृद्धि होती है। ऑत की दीवारें तथा मांसपेशियाँ मोटी हो जाती हैं और मजबूत भी हो जाती हैं। इस अवस्था में यकृत के वजन में वृद्धि होती है और ग्रासनली की लम्बाई में वृद्धि हो जाती है।

(2) रक्तसंचार तंत्र

किशोरावस्था में हृदय में तेजी से वृद्धि होती हैं। 17–18 वर्ष की उम्र में यह जन्म से 12 गुना भारी हो जाती है। हृदय की दीवारें और रक्त वाहिकाओं में वृद्धि होती है और वह परिपक्व हो जाती हैं।

(3) श्वसन तंत्र

बालिकाओं में फेफडे 17 वर्ष की उम्र में परिपक्व हो जाते हैं और विकासपूर्ण हो जाता है। परन्तु बालकों में यह परिपक्वता इसके कई वर्षों बाद आती है। अर्थात्

बालिकाओं में यह परिपक्वता बालकों की अपेक्षा इसके कई वर्षों बाद आती है। अर्थात् बालिकाओं में यह परिपक्वता बालकों की अपेक्षा जल्दी आ जाती है।

(4) अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ

जनन ग्रन्थियों की क्रियाशीलता में यौवनारम्भ में बहुत वृद्धि हो जाती है और इसके उपरान्त पूर्व किशोरावस्था में आन्तरिक ग्रन्थिप्रणाली में सन्तुलन नहीं रह जाता है। वह असन्तुलन में आ जाते हैं। इस अवस्था में लैंगिक ग्रन्थियाँ तीव्रगति से बढ़ती हैं और लैंगिक कार्यों की क्षमता किशोर और किशोरी में आ जाती है। लेकिन यह अपनी परिपक्व आकार को नहीं प्राप्त कर पाती हैं। आकार की दृष्टि से इनमें परिपक्वता उत्तर या प्रारम्भिक किशोरावस्था में ही आ जाती है।

(5) शारीरिक ऊतक

इस अवस्था में कंकाल में वृद्धि रूक जाती है। अर्थात् औसतन 18 वें वर्ष में कंकाल में वृद्धि रूक जाती है। ऊतकों का विकास हड्डियों में परिपक्वता आ जाने के बाद भी जारी रहता है। यह खासतौर से मांसपेशीय ऊतकों की लिये सत्य है।

शारीरिक विकास या परिवर्तन में भिन्नताएँ

हर उम्र में वैयेक्तिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं और यह बात सत्य है। उसी प्रकार शारीरिक परिवर्तन में भी वैयक्तिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं, जिसमें लैंगिक भिन्नताएं स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। यद्यपि बालकों में वृद्धि बालिकाओं की अपेक्षा बाद में शुरू होती है। वैसे बालक, बालिका से अधिक लम्बे होतें हैं। बालकों की मांसपेशियाँ लड़कियों के अपेक्षा लम्बी होती हैं।

वैयक्तिक भिन्नताओं पर परिपक्वता की उम्र का भी प्रभाव पड़ता है। जिनमें देर से परिपक्वता आती है। उनके कंधे जल्दी परिपक्व हुये कंधों से बड़े होते हैं। जल्दी परिपक्वता प्राप्त कर चुके बालक और बालिकाओं के पैर मोटे और मजबूत होते हैं। जिनमें देर से परिपक्वता आती है उनके पैर लम्बे होते हैं। जल्दी परिपक्व हो चुकी बालिकायें ज्यादा लम्बी ज्यादा वजन वाली होती हैं अपेक्षा उनके जो बालिकायें देर से परिपक्वता प्राप्त करती हैं।

शारीरिक परिवर्तन का प्रभाव

जैसे–जैसे शारीरिक परिवर्तन मन्द होता है यौवनारम्भ को भद्दापन और प्रारम्भिक किशोरावस्था का उतावलापन अदृश्य होता जाता है। यह सब इसलिये होता है क्योंकि किशोर और किशोरी अपने अन्दर हुये शारीरिक परिवर्तन को नियन्त्रित करने का तरीका सीख चुके होते हैं। वे अपनी नयी–नयी अर्जित की हुई सामर्थ्य का उपयोग करने को लेकर उत्साहित रहते हैं और उधर प्रोत्साहित भी होते हैं। यह सामर्थ्य उनको उनके सामने उत्पन्न भद्दापन और अवांछित क्रियाओं और विचारों को रोकने और उनसे निपटने के लिये मदद करती हैं।

मांसपेशियों के आकार में वृद्धि के बाद ही बालक पूर्ण रूप से सामर्थ्यवान होता है। बालक सामान्य रूप से 14 वर्ष की उम्र के बाद ही तेजी से वृद्धि करते हैं जबकि बालिकाओं में यह वृद्धि या विकास इस उम्र के बाद ही होता है। बालिकायें सामान्य रूप से 17 वें वर्ष तक अपनी अधिकतम वृद्धि या परिपक्वता तक पहुँचती हैं जबकि बालकों में यह परिपक्वता 21–22 तक आती है। यानि बालिकायें 17–18 वर्ष में परिपक्व हो जाती हैं और बालक अधिकतम 21–22 तक परिपक्वता तक पहुँचते हैं।

8.4 किशोरावस्था में समायोजन

किशोरावस्था की समस्याएँ

किशोरावस्था में बालकों तथा बालिकाओं को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। किशोरावस्था को समस्याओं की अवधि के नाम से भी जाना जाता है। किशोरावस्था में पैदा होने वाली समस्या से किशोरों का न केवल वर्तमान प्रभावित होता है बल्कि उनका भविष्य भी प्रभावित होता है। हाल (1950) ने इसे ''तूफान एवं प्रतिबल'' की अवस्था का नाम दिया है। इसलिये किशोरावस्था की समस्याओं को पहचानने तथा समाधान करने पर विशेष बल दिया जाता है। किशोर तथा समाज दोनों के दृष्टिकोण से उपयोगी और आवश्यक है कि समस्याओं का उचित समाधान किया जाये।

किशोरावस्था को तीन अवधियों में विभक्त किया गया है इसलिये किशोरावस्था की समस्याओं पर इसी आधार पर चर्चा किया जायेगा।

पूर्व किशोरावस्था की समस्याएँ

यह किशोरावस्था की प्रथम अवधि है। इस अवधि की प्रमुख समस्याएँ निम्नवत हैं :–

(1) किशोर–किशोरियों में नकारात्मक प्रवृत्ति तथा सामाजिक नियंत्रण में कमी पायी जाती है।

(2) किशोर–किशोरियों में इस अवधि में चिन्ता, अस्थिरता, उलझन, लक्ष्यहीनता, संघर्ष, द्वन्द्व एवं समायोजन के उच्च लक्षण पाये जाते हैं।

(3) व्यवहारों में अस्पष्टता पायी जाती है

इस अवधि में उनकी हरकतों उनके व्यवहार को समझ पाना आसान नहीं होता है। ये अपनी बातें अपने माता–पिता से बताना नहीं चाहते हैं। इस अवधि को रहस्यात्मक अवधि के नाम से भी जाना जाता है। इस अवस्था में लड़कियां अधिक चिन्तित दिखाई पड़ती हैं।

प्रारम्भिक किशोरावस्था की समस्याएँ

इस अवधि की समस्याएँ निम्नवत हैं –

(1) सामाजिक समायोजन, व्यक्तिगत समायोजन, आर्थिक तथा व्यावसायिक समायोजन इत्यादि से सम्बन्धित समस्याओं का सामना किशोर एवं किशोरियों को करना पड़ता है।

(2) इस अवधि में बालिकाओं को बालकों से अधिक व्यक्तिगत तथा सामाजिक सामायोजन में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(3) लड़कों के सामने जीविकोपार्जन की समस्या सबसे बड़ी होती है।

उत्तर किशोरावस्था की समस्याएँ

इस अवस्था में गत अवस्थाओं की तुलना में अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है जो निम्न हैं :–

(1) परिवार तथा परिवार के साथ सामंजस्य, विद्यालय, व्यवसाय, आदि के साथ सामंजस्य स्थापित करने की समस्या, जीविकोपार्जन, आत्मनिर्भरता, सामाजिक प्रत्याशाओं, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं, खर्च के लिये धन की कमी, परिवार बसाने आदि से संबंधित समस्याएँ किशोरों के सामने इस अवस्था में आती हैं।

(2) किशोरियों को शारीरिक आकर्षण, साज–सज्जा, सुरक्षा, विवाह तथा परिवार की चिन्ता अधिक रहती है।

किशोावस्था की समस्याओं के प्रकार

किशोरावस्था की समस्याओं को जानने तथा उनके समाधान को आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

(1) स्वालम्बन की समस्या

किशोरावस्था में हर किशोर आत्मनिर्भर बनना चाहता है। वह किसी के आश्रित नहीं रहना चाहता है जिससे उसमें चिन्ता उत्पन होती है।

(2) समकक्ष मित्रों के साथ संबंध की समस्या

इस आयु में किशोर परिवार की अपेक्षा मित्रों तथा समकक्षों पर ज्यादा अश्रित रहते हैं और उधर आकर्षित भी ज्यादा होते हैं। मित्रों को अधिक महत्व दिए जाने के कारण उनके साथ भी समायोजन स्थापित करना आवश्यक कार्य बन जाता है।

(3) विपरीत लिंग के साथ संबंध की समस्या

इस अवस्था में विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण बढ़ता है और विपरीत लिंग के प्रति उचित व्यवहार करने की समस्या भी महत्वपूर्ण है।

(4) व्यवसाय की समस्या

जैसा कि पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि इस अवस्था में किशोर में आत्मनिर्भरता के लिये व्यवसाय संबंधी समस्या भी एक महत्वपूर्ण समस्या है।

(5) नैतिक एवं धार्मिक समस्याएँ

इस अवस्था में किशोर तथा किशोरियों को नैतिक तथा धार्मिक अवरोधों, प्रतिबन्धों एवं द्वन्द्वों का भी सामना करना पड़ता है। इससे उसमें तनाव की उत्पत्ति होती है और यह भी उसके समायोजन के लिए समस्या लिए खड़ी करता है।

(6) संवेगात्मक परिपक्वता की समस्या

किशोरावस्था में किशोर तथा किशोरी के अन्दर अनेक शारीरिक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों के कारण संवेगात्मक स्थिति अस्थिर होने लगती है। इसलिये इसे ''तूफान एवं प्रतिबल'' की अवस्था भी कहा जाता है। संवेगात्मक अस्थिरता के कारण समायोजन भी बाधित हो जाता है।

(7) सामाजिक अनुरूपता की समस्या

इस अवस्था में किशोर तथा किशोरियों में स्वच्छन्दता की भावना में वृद्धि हो जाती है। वह सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप नहीं होता है। इस कारण उन्हें लोगों की आलोचना झेलनी पड़ती है और प्रतिबल का भी सामना करना पड़ता है जो एक समस्या होती है।

(8) विद्यालयी समस्याएँ

इस अवस्था में विभिन्न विद्यालयी समास्याओं का भी सामना करना पड़ता है। जैसे– प्रवेश, विद्यालय में सामायोजन, अच्छे अंक प्राप्त करना इत्यादि।

(9) स्वास्थ्य–समस्याएँ

कभी–कभी स्वास्थ्य संबंधी समस्या भी किशोरों तथा किशोरियों में समस्याएँ पैदा कर देती हैं।

(10) मनोरंजनात्मक समस्यायें

मनोरंजन का किशोरों तथा किशोरियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि उन्हें इससे वंचित रखा जाय तो इसका प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इसलिये यह भी एक समस्या है।

(11) पारिवारिक समस्या

इस अवस्था में अनेक पारिवारिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। आर्थिक स्थिति, परिवार विघटन, किसी सदस्य की मृत्यु एवं स्नेह का अभाव इत्यादि ऐसे कारक हैं जो समस्यायें पैदा करते हैं।

किशोरावस्था में समायोजन; समस्या समाधान

किशोरावस्था में जो समस्याएँ प्रकट होती हैं उनका रूप काफी जटिल तथा गंभीर होता है। हर किशोर तथा किशोरी को एक जैसी समस्या नहीं होती है। सभी की

समस्याओं में वैयक्तिक भिन्नताएं पाई जाती हैं। कोई इस समस्या से कम प्रभावित होती है तो कोई ज्यादा प्रभावित होता है। लेकिन प्रभावित होते सभी हैं, जिसके समाधान के लिये सहानुभूति एवं सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है।

किशोरावस्था की समस्याओं के समाधान हेतु निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिये ताकि किशोर तथा किशोरी समायोजन स्थापित कर सकें।

(1) किशोरावस्था की विभिन्न प्रकार की व्यक्तिगत, व्यावहारिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान उन्हें उचित निर्देशन तथा परामर्शन देकर किया जा सकता है। यह निर्देशन तथा परामर्शन किसी भी क्षेत्र में हो सकता है। वह पारिवारिक समायोजन, शैक्षिक उपलब्धि, विद्यालयीय समायोजन, सामाजिक समायोजन एवं भविष्य की योजनाओं के लिये महत्पूर्ण भूमिका निभाता है।

(2) किशोर एवं किशोरी की समस्या नजरअन्दाज नहीं की जानी चाहिये उनकी समस्या को सुनना चाहिये। उनकी आलोचना नहीं करनी चाहिये। उनके लिये सहानुभति एवं अपनत्व की भावना प्रदर्शित करनी चाहिये जिससे वह अपने समायोजन में सुधार कर सकें।

(3) किशोर एवं किशोरी के लिए उनके परिवार का वातावरण अनुकूल एवं सौहार्द्रपूर्ण होना चाहिये। यदि परिवार वाले खासतौर पर माता–पिता यदि उनके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करेंगे तो वह अपने समायोजन में विकास कर सकेंगे और अपनी उलझनों तथा तनाव को कम कर सकेंगे।

(4) किशोर तथा किशोरी पर विद्यालय एवं परिवार के अनुशासन का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। अनुशासन में उदारता एवं लोकतान्त्रिक तकनीकों का प्रयोग करें। उन्हें अपने प्यार से अपने विश्वास में लेकर किसी बात को समझायें ताकि वह समायोजित व्यवहार करने में सफल हों।

(5) किशोर एवं किशोरी में समुचित व्यावहारिक समन्वय के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि उन्हें सामाजिक अन्तर्किया का अनुकूल वातावरण मिले और उनका व्यवहार समन्वित हो। उन्हें अच्छे कार्यों के लिए पुरस्कृत किया जाना चाहिये और प्रतिष्ठित व्यक्तियों या प्रतिमानों का अनुसरण करने के लिये प्रेरित किया जाना चाहिये जिससे वह अपनी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ सकें और समायोजन स्थापित कर सकें।

(6) परिवार, माता–पिता एवं शिक्षकों को किशोर एवं किशोरियों को समस्यात्मक परिस्थितियों में उचित अभिवृत्ति बनाये रखने में सही–मार्गदर्शन करना चाहिये, सही या उचित व्यवहार के लिए पुर्नबलित करना चाहिये जिससे वांछित व्यवहार बढ़ेगा और अवांछित व्यवहार धीरे–धीरे समाप्त हो जायेगा।

(7) किशोरावस्था की समस्याओं के समाधान के लिए माता–पिता और संबंधियों को वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण रखना चाहिये। बच्चों से ऐसी प्रत्याशा नहीं करना चाहियें जो वह न कर सकें, बच्चों से प्रौढ़ों जैसे व्यवहार की प्रत्याशा नहीं करना चाहिये।

(8) कभी–कभी ऐसी भी स्थितियां उत्पन्न होती हैं कि किशोर और किशोरी किसी लक्ष्य को लेकर तनाव में रहते हैं तो उन्हें यह सलाह देनी चाहिये कि वह कोई दूसरा विकल्प चुनकर अपना कार्य बढ़ावें। जिससे उन्हें समायोजन स्थापित करने में सहायता मिलती है और तनाव कम होता है।

(9) यदि बच्चे का परिवार में प्यार और सौहार्दपूर्ण वातावरण में पालन–पोषण हुआ होता है तो उनमें आत्म विश्वास अधिक पाया जाता है। बच्चे को विपरीत परिस्थितियों में आत्मनियंत्रण की शिक्षा देनी चाहिये जिससे वह समायोजन स्थापित करने में कुशलातापूर्वक कार्य कर सकेगा। इस प्रकार वह विभिन्न परिस्थितियों में आत्मनियंत्रण का उपयोग सीख जाता है और समायोजन स्थापित करता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि किशोरावस्था में किशोरों एवं किशोरियों का मन बहुत ही अस्थिर रहता है। माता–पिता एवं शिक्षकों को उनके साथ सहानुभूति रखनी चाहिए और बड़ी ही समझदारीपूर्वक उनकी बातों को सुनकर उसे समझाने का प्रयास करना चाहिए ताकि वह अपनी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ सकें और समायोजन स्थापित कर सकें।

8.5 सारांश

किशोरावस्था विकास की एक ऐसी अवस्था है जिसमें बाल्यावस्था की प्रायः सभी शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का लोप हों जाता है और उनके स्थान पर नये गुणों का आविर्भाव होने लगता है। विशेषकर किशोरों के भीतर शारीरिक, संवेगात्मक, सामाजिकता एवं मानसिक चार प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। किशोर बालक और बालिकाओं में घोर शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन होते हैं जिससे उनके संवेगात्मक, सामाजिक और मानसिक व्यवहार के स्वरूप ही बदल जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो किशोरावस्था में वह प्रवेश कर एक नया जीवन ग्रहण करता है। कामेच्छा जागृत हो जाने के कारण किशोरों को यह अवस्था अत्यन्त प्रिय और आनन्दमयी लगने लगती है। किशोरावस्था की मुख्य विशेषताएँ होती हैं– किशोरावस्था शैशव की पुनरावृत्ति होती है। यह कामुकता के जागरण की अवस्था होती है। यह संवेगात्मक अस्थिरता की अवस्था होती है। यह समस्या बाहुल्य की अवस्था होती है। यह विकसित सामाजिकता की अवस्था होती है। यह कल्पना बाहुल्य की अवस्था होती है।

किशोरावस्था में तीव्र गति से शारीरिक विकास होता है। किशोरावस्था में मुख्य रूप से जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं उन्हें विभिन्न प्रकारों में बाँटा जा सकता है। यौन सम्बन्धी परिवर्तन, यौन सम्बन्धी गौण परिवर्तन, ऊँचाई, शारीरिक वजन, शारीरिक अंगों के अनुपात आदि में भी परिवर्तन होते हैं।

किशोरावस्था में बालक के कुसमायोजित हो जाने की आशंका हो जाती है। अनेक कुसमायोजित किशोरों के समस्या जनक व्यवहार की उत्पत्ति बाल्यावस्था के प्रारम्भिक वर्षो से ही हो जाती है। किशोरावस्था का प्रारम्भिक काल दबाव और कुसमायोजन का होता है। समायोजित किशोर दुखी व्यक्ति होता है। वह अपने को समाज में अकेला पाता है। किशोरों की समायोजन सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण करना आवश्यक होता है। समायोजन की समस्या से बचने के लिए उसे प्रत्यक्ष रूप से बचाव करने का प्रयास करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। प्रत्यक्ष रूप से बचाव के अतिरिक्त मानसिक रक्षायुक्तियों का भी सहारा ले सकता है किशोर।

8.6 शब्दावली

विकासः गर्भाधान के बाद से लेकर मृत्यु के पूर्व तक मानव में क्रमिक रूप्से होने वाले शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों को विकास कहते हैं।

संवेगात्मक अस्थिरता : संवेगात्मक अभि व्यक्तियों का स्थिर न रहना।

अंतःस्रावी ग्रन्थियाँः मानव के भीतर कई प्रकार की ग्रन्थियाँ पायी जाती हैं जिनसे अलग–अलग प्रकार के स्राव होते हैं। ये स्राव या हारमोन्स मानव के व्यवहार में संतुलन स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

सामाजिक अनुरूपताः समाजद्वारा स्थापित सामाजिक मानकों एवं मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करना।

8.7 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. किशोरों के भीतर मुख्य रूप से .... प्रकार के परिवर्तन दिखाई देते हैं।
2. किशोरावस्था में .... अस्थिरता पायी जाती है।
3. किशोर....................... से परे होता है।
4. किशोरावस्थाको..........................की अवस्था कहा जाता है।
5. किशोरावस्था में ....की समस्या उत्पन्न होती है।
6. किशोरावस्था में संवेगात्मक स्थिति....................होने लगती है।

उत्तर : (1) चार (2) संवेगात्मक (3) यथार्थ वाद (4) समस्या बाहुल्य (5) स्वालम्बन (6) अस्थिर

8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) Adelson, J. (1980) : HandBook of Adolescent Phychology.

(2) Hur Lock, E.B. (1984) : Developmental Psychology, Mc Graw Hill.

(3) Lal, J.N. & Srivastava, Anita (Sixth Edition 2012/13): नवीन विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा।

(5) Singh, R.N. (2009) : आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा।

(6) Winder, Z, Human Development. Alfredknof N.Y.

(7) Labert : Developmental Psychology. Sage Publication, New Delhi.

8.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. किशोरावस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. किशोरावस्था में होने वाले प्रमुख शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।
3. किशोरावस्था में समायोजन सम्बन्धी समस्याओं का विस्तृत उल्लेख कीजिए।
4. टिप्पणी लिखिए :

(1) किशोरावस्था में होने वाले बाह्य शारीरिक परिवर्तन

(2) पूर्व किशोरावस्था की समस्याएँ।

इकाई 9. किशोरावस्था के दौरान सामाजिक बदलाव- पहचान, आत्म-संप्रत्यय एवं आत्म-सम्मान(Social Changes during Adolescence- Identity, Self Concept and Self-Esteem)

इकाई संरचना–

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 किशोरावस्था में समाजिक परिवर्तन

9.3 किशोरावस्था में आत्म–पहचान या तादाम्य का विकास

9.4.1 किशोरावस्था में आत्म–प्रत्यय का विकास

9.4.2 किशोरावस्था में स्वबोध या आत्म –सम्मान का विकास

9.5 सारांश

9.6 शब्दावली

9.7 प्रश्न एवं उनके उत्तर

9.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.9. निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

वैसे तो सामाजिक विकास की प्रक्रिया बच्चे में जन्म के बाद ही प्रारम्भ हो जाती है। लेकिन किशोरावस्था में सामाजिक विकास तीव्र गति से होता है। किशोरावस्था में सामाजिक परिस्थितियों के साथ समायोजन स्थापित करने में कई कठिनाइयाँ आती हैं। लेकिन धीरे–धीरे किशोर सामाजिक विकास के कारण इसका समाधान ढूँढ लेता है। इस अवस्था में सामाजिक विकास के साथ–साथ उसके सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन तथा सुधार भी होता है। विशेष रूप से किशोरों के व्यवहार पर समूहों का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसमें विशेषकर जो उसके आयु वर्ग के होते हैं। जब किशोर अपने समकक्ष समूह के संपर्क में आता है तब वह अपने स्वयं के बारे में नई धारणाएँ विकसित करता है। इस अवस्था में किशोर विपरीत लिंग के तरफ अधिक आकर्षित होता है। वह सामाजिक कार्यों में अधिक से अधिक भाग लेने लगता है। उसमें नवीन सामाजिक समूहों का निर्माण होता है। वह मित्रों के चयन में नवीन मूल्य विकसित कर लेता है। सामााजिक स्वीकृति के लिए उनमें नवीन मूल्यों का विकास होता है। उसके रूचियों में परिवर्तन होता है। किशोर बालक के अंदर पूरी तरह से नैतिक समप्रत्ययों में परिवर्तन हो जाता है और धीरे–धीरे उनमें नैतिक संहिता का निर्माण होता है। धीरे–धीरे उनमें अपने व्यवहारों पर आत्यधिक नियंत्रण का भी विकास होने लगता है। उनमें अन्र्तआत्मा का विकास होने लगता है। जिसके कारण गलत कार्यों के करने पर वह ग्लानि अनुभव करता है तथा भविष्य में वैसी गलती नहीं करता है।

बालक के व्यक्तित्व के स्वरूप का निर्माण विशेषकर उसके आत्मबोध और उसके शीलगुण से होता है। आत्मबोध व्यक्तित्व विकास की धुरी होती है। बालक का आत्मबोध उसके भीतर स्वयं से सम्बन्धित समग्र धारणाओं का प्रतिबिम्ब होता है। बालक के भीतर आत्म–सम्प्रत्यय का विकास अनके व्यक्तित्व विकास का केन्द्रीय तथ्य समझा जाता है।

बालक के भीतर भावात्मक आत्म–प्रत्यय का विकास होना उसके स्वस्थ समायोजन के लिए आवश्यक है। आत्म–संप्रत्यय से तात्पर्य है कोई बालक अपने संबंध में शारीरिक क्षमताओं और मानसिक विशेषताओं के संबंध में परिवार, समुदाय और समाज में अपने स्थान, मान–सम्मान के सम्बन्ध में क्या सोचता समझता है। यह एक व्यापक समप्रत्यय है। इसमें आत्म ज्ञान, आत्म प्रतिबिम्ब, आत्म–सम्मान तथा आत्म परिचय सभी सम्मिलित है। बालक के भीतर उसके आत्म–समप्रत्ययों का विकास भी अन्य क्षमताओं के भाँति कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। किशोरावस्था में उसका विकास तेजी से होता है।

मार्शिया ने बालकों और किशोरों के भीतर स्व–पहचान के संबंध में व्यापक रूप से अपना विचार व्यक्त किया है। इनका मत है कि किशोरों के भीतर स्व–पहचान का विकास चार अवस्थाओं से होकर गुजरता है। ये चार अवस्थाएं हैं– निषेधात्मक स्तर, पहचान बिखराव का स्तर, मोराटोरियम का स्तर, एवं पहचान प्राप्ति का स्तर।

इस प्रकार किशोरावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व संबंधी अनेक आवश्यकताओं का विकास होता है। जिनमें से प्रमुख हैं– स्वपहचान, स्वप्रत्यय एवं स्वबोध।

9.1 उद्देश्य

इस खण्ड में आपको निम्नलिखित के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होगी–

- किशोरों में सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार होता है।
- किशोरों में पहचान का विकास कैसे होता है।
- किशोरों में स्वप्रत्यय एवं स्वबोध का विकास कैसे होता है।

9.2 किशोरावस्था में सामाजिक परिवर्तन

किशोरावस्था में सामाजिक परिवर्तन बहुत ही तेज गति से होता है। किशोरावस्था में होने वाले इसी सामाजिक परितर्वन के कारण किशोरों एवं किशोरियों का सामाजिक परिस्थितियों के प्रति समायोजन कठिन हो जाता है। किशोर एवं किशोरी को अपने घर–परिवार के बाहर, स्कूल में लोगों के साथ तथा विपरीत लिंग के प्रति समायोजन कठिन हो जाता है। इन सभी में विपरीत लिंग के प्रति समायोजन से सम्बन्धित समस्या का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में बालक सामाजिक व्यवहार लगभग वैसा ही करने लगता है जैसा कि वह विभिन्न परिस्थितियों में वयस्क व्यक्तियों को करता हुआ देखता है। सामाजिक व्यवहार से संबंधित प्रतिमान लगभग वयस्क व्यक्तियों के जैसे होते हैं। L. Stewart & N. Livson (1966) ने अपने धूम्रपान संबंधी अध्ययनों के आधार पर यह पाया कि –"Smoking, Drinking, Driving, Using Narcotics and engaging in Sexual activities are to him, symbols of an adult status".बालक की आयु में जैसे–जैसे वृद्धि होती जाती है उसमें इन विशेषताओं की वृद्धि देखी जाती है। किशोरावस्था में देखा जाता है कि सामाजिक क्रियाएं चरम सीमा पर होती हैं और परिवार की अपेक्षा अपने मित्रों, साथी समूहों में समय बिताने में अधिक रूचि लेता है। वह अपनी ज्यादा से ज्यादा बातें अपने माता–पिता से न कह करके अपने मित्रों के बीच कहता है और उनसे सलाह मशविरा भी करना चाहता है। क्योंकि उसे इस बात का डर होता है कि कहीं ऐसा न हो कि परिवार वाले और माता–पिता उसकी बातों को न समझ पायें

और नाराजगी व्यक्त करें। इस अवस्था में सामाजिक विस्तार हो जाने के कारण बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। किशोरावस्था में निम्नलिखित सामाजिक परिवर्तन विशेष रूप से दिखाई पड़ते हैं।

1. **समकक्ष – समूहों का प्रभाव (Peer-Group Influences)**

इस अवस्था में किशोर पर माता–पिता और परिवार वालों की अपेक्षा साथी समूह और मित्रों का अधिक प्रभाव पड़ता है। होराक्स एवं बेनीमॉफ (1966) के शब्दों में किशोरों की वास्तविक दुनिया समकक्ष समूह हो जाते हैं। समूहों का इतना ज्यादा असर होता है कि किशोरों पर कि वह ज्यादा से ज्यादा समय उन्हीं के साथ बिताना पसंद करते हैं और उनके संपर्क में आने पर वह अपने 'स्वयं' (Self) के बारे में नवीन धारणाएं विकसित करता है। बालक किशोरावस्था में नए–नए साथी समूह बनाता है और नए–नए समूहों का सदस्य स्वयं बनता है। लड़कों के साथी समूह लड़कियों की अपेक्षा बड़े और अधिक संगठित होते हैं। किशोरावस्था में लड़के और लड़कियाँ अंतरंग (Chums) मित्र भी बनाते हैं। यह मित्र समान लिंग के होते हैं। जैसे–लड़के–लड़कों और लड़कियाँ– लड़कियों को अतरंग मित्र बनाती हैं। यदि उनकी लड़ाइयां भी होती हैं तो घनिष्ठ मित्रता के कारण शीघ्र ही समझौा हो जाता है। इस अवस्था में किशोर छोटे समूहों के सदस्य भी बनते हैं। यह जो समूह होता है उसमें अन्य मित्र समान रूचियों और योग्यताओं वाले होते हैं। किशोरावस्था में किशोर गैंग (Gang) के सदस्य बनते हैं और स्वयं Gang का निर्माण भी करते हैं। बहुधा Gang में एक ही Sex के होते हैं। ये Gang गली, चौराहो नुक्कड़ों, चौराहो और कालेजों के आस–पास देखने को मिलते हैं। यह Gang अपने ज्यादा से ज्यादा समय समाज विरोधी व्यवहारों को करने में अपना समय व्यतीत करते हैं। Gang में बदले की भावना अधिक देखने को मिलती हैं, वह जिनको पसंद नहीं करते हैं उन्हें अपने Gang में नही रखना चाहते हैं और उनमें बदले की भी भावना का विकास होता है।

2. **सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन** (Change in Social Behaviour)

किशोरावस्था में होने वाले परिवर्तनों में सामाजिक व्यवहारों में होने वाले परिवर्तनों का विशेष महत्व है। किशोरावस्था में विपरीत लिंग के प्रति दूरी समाप्त हो जाती है तथा विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण और खिंचाव बढ़ जाता हैं। वे विपरीत लिंग के साथ अधिक से अधिक समय बिताना पसंद करने लगते हैं और उनमें रूचि लेने लगते हैं। किशोर सामाजिक कार्यों में अधिक भाग लेने लगते हैं और उनकी रूचि उन कार्यों बढ़ जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि किशोर एवं किशोरी के अन्दर सामाजिक समझ बढ़ जाती है और वह अपने बदलते सामाजिक परिवेश में समायोजन स्थापित करने के योग्य हो जाते हैं। उनमें आत्मविश्वास का स्तर भी बढ़ जाता है।

3. **नवीन सामाजिक समूह** (New Social Grouping)

किशोरावस्था में नवीन सामाजिक समूहों का निर्माण होता है। जब बालक बाल्यावस्था की अवस्था में होता है तो वह अनेक प्रकार के खेलों में अधिक रूचि होने पर किशोरावस्था में किशोरों की रूचि इन खेलों में घटती जाती है और वे औपचारिक

सामाजिक क्रियाओं में भाग लेकर नए समूहों का निर्माण करते हैं। इस अवस्था में घनिष्ठ मित्रों का चुनाव करते हैं। उन मित्रों से नए समूह की संरचना करते हैं और संरचना बनाते के बाद बड़े–बड़े समूहों या भीड़ों का भी सदस्य बन जाते हैं एवं सदस्यता हासिल कर लेते हैं। लेकिन इन समूहों में सामाजिक दूरी अपेक्षाकृत अधिक होती है। आगे चलकर वे संगठित समूहों का निर्माण करते हैं तथा मित्र मंडली एवं गैंग भी बनाते हैं।

4. **मित्रों के चयन में नवीन मूल्य** (New Values in selection of Frinds)

किशोरावस्था में मित्रों के चुनाव का मापदण्ड बदल जाता है। इस अवस्था में वे अपने मित्रों के चयन में बहुत सतर्क हो जाते हैं और जिन लोगों की रूचियों तथा मूल्य उनके मूल्यों तथा रूचियों से मिलते–जुलते होते हैं या अधिक मिलते हैं उन्हीं को वह मित्र बनाते हैं तथा धीरे–धीरे वह विश्वासपात्र हो जाते हैं। जोसेफ (1969) के अनुसार–किशोर उन्हीं से मित्रता रखना चाहते हैं जो उनके विश्वासपात्र होते हैं या लगते हैं। विपरीत लिंग के प्रति भी उनका रूझान बढ़ता है और वे अधिक से अधिक लोगों से संबंध बनाना चाहते हैं। हालांकि हो रहे परिवर्तन के कारण उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। लेकिन धीरे–धीरे परिपक्वता बढ़ने पर वह समायोजन स्थापित करना सीख जाते हैं। चूँकि इस वक्त मित्रों का चुनाव बड़ी सतर्कता से होता है इसलिये वे मित्र स्थायी होते हैं। इस समय वे मित्रों का चुनाव करते हैं उनसे, संबंध बनाते हैं तो कुछ पहले के मित्रों को बहिष्कृत भी करते हैं। उनके मूल्य या रूचि जिन लोगों के मूल्य या रूचि से नहीं मिलते उनसे वे दूरी बना लेते हैं या उन्हें अपने समूह से बहिष्कृत कर देते हैं। वे ज्यादा से ज्यादा वक्त अपने मित्रों एवं साथी –समूहों के बीच ही बिताते हैं।

5. **सामाजिक स्वीकृति के नवीन मूल्य** (New Values in Social acceptance)

किशोरावस्था में सामाजिक स्वीकृतियों के लिये नवीन मूल्यों का विकास किया जाता है। किशोर एवं किशोरी पर साथी–समूह का इतना प्रभाव पड़ता है कि साथी समूह का ध्यान रखते हुए अपने विकसित मूल्यों का ध्यान रखते हुए वे अपने सामने उपस्थित स्थिति की चीजों को स्वीकृति या अपनी दृष्टि प्रदान करते हैं। किसी एक मूल्य विशेषता के आधार पर ना ही किसी व्यक्ति को स्वीकृत और ना अस्वीकृत किया जाता है। वे इस अवस्था में संघात या समूह का विकास करते हैं जिसमें ऐसी विशेषताओं का समूह होता है, जिससे हम किसी से जुड़ना या अलग रहना चाहते हैं। संघात दो प्रकार के होते हैं–

1. स्वीकृति लक्षण समष्टि (Acceptance Syndrome)
2. अस्वीकृति लक्षण समष्टि (Rejection Syndrome)

स्वीकृति लक्षण समष्टि के कारण व्यक्ति समकक्ष – समूहों या व्यक्तियों के साथ होना चाहता है। अर्थात् किशोर वं किशोरी यदि ऐसा संघात विकसित करते हैं तो वह उस अमुक समूह के साथ जुड़े रहना चाहता है और यदि वह अस्वीकृत लक्षण समष्टि रखता है तो वह समूह से अलग असम्बद्ध रहना चाहता है।

6. **नेताओं के चयन में नवीन मूल्य** (New Values in Selection of Leaders)

किशोरावस्था में नेताओं के चयन में नवीन मूल्यों का विकास होता है। इस अवस्था में व्यक्ति यह समझने लगता है कि नेता समूह का प्रतिनिधित्व करता है और नेता में वह गुण और योग्यता होनी चाहिये कि वह अपने समूह को प्रभावित कर सके तथा अपना प्रभाव व्यापक रूप में डाल सके। इस अवस्था में नेतृत्व अनेक प्रकार का हो जाता है।

जैसे – सामाजिक नेतृत्व, बौद्धिक नेतृत्व, धार्मिक नेतृत्व और सामुदायिक नेतृत्व इत्यादि। यह बहुत ही आवश्यक है कि नेता समुचित योग्यता वाला हो कि वह समूह का प्रतिनिधित्व भली प्रकार कर सके। यह सत्य है कि बाल्यावस्था की अपेक्षा किशोरावस्था में नेताओं के चयन के मापदण्ड बदल जाते हैं। किशोरावस्था में व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि नेता में समूह के प्रति ईमानदारी होनी चाहिए, उसमें सामाजिक अर्न्तदृष्टि (सूझ) तथा समूह के कल्याण की भावना होनी चाहिए। इस प्रकार किशोरावस्था में मापदण्ड में परिवर्तन हो जाता है और परिपक्वता आ जाती है।

किशोरावस्था में किशोर बालक की आयु जब बढ़ती है तो उसमें सामाजिक कार्यों और कार्यक्रमों में भाग लेने में रूचि बढ़ने लगती है और अवसर भी बढ़ने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनमें सामाजिक अर्न्तदृष्टि बढ़ जाती है, जिससे वे सामाजिक परिस्थितियों को अच्छे तरीके से समझने लगते हैं और अच्छे तरीके से व्यवहार करने लगते हैं। आयु बढ़ने के साथ–साथ उसका झगड़ा लोगों के साथ कम हो जाता है। समायोजन में अर्न्तदृष्टि होने लगती है। इस अवस्था के अन्त तक किशोर समूह (Gang) छोड़ने लगते हैं। हरलॉक (1968) ने इस संबंध में लिखा है कि "The older adolescent has little interest in youth groups with planned activities and a leader. After seventeen years of age few adolescents belong to such groups".

इस अवस्था के अन्त तक किशोर एवं किशोरी उन्हीं के तरफ अधिक आकर्षित होते हैं या मित्रता करते हैं जिनके मूल्य या रूचि उनके समान होते है। इस अवस्था के अन्त तक पर्याप्त मात्रा में सामाजिक परिपक्वता आ जाती है और वे सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुसार व्यवहार करने लगते हैं। उचित भूमिका निर्वाह करने लगते हैं जोकि उन्हें करनी चाहिए। उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है, जिससे वह उत्तरदायित्व को भली–भांति समझने भी लगते हैं और निर्वाह भी करने लगते हैं। अर्थात् वे समाज के साथ अनुरूपता काफी कुछ स्थापित कर चुके होते हैं। सामाजिक परिपक्वता बढ़ने के कारण व बिना पक्षपात किये दूसरों के साथ अच्छे से व्यवहार करते हैं और समायोजन स्थापित कर पाते हैं। किशोर माता–पिता और परिवार के साथ सौहार्द्र और आदर का भाव रखता है और इसी प्रकार उसका परिवार के प्रति व्यवहार मित्रवत हो जाता है।

9.3 किशोरावस्था में आत्म–पहचान (तादात्म्य) का विकास

किशोरों में विकास का तात्पर्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का विकास। विलियम जेम्स ने व्यक्तित्व प्रतिमान का केन्द्र बिन्दु ''आत्म'' को माना है जिसे फ्रायड ने अहं (Ego) कहा है। आत्म की उत्पत्ति और विकास में अन्य कारकों के साथ–साथ तादात्मीकरण भी एक महत्वपूर्ण कारक है। कोलमैन (1976) के अनुसार–''पहचान में एक व्यक्ति किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति या संस्था से अपनी आत्म का तादाम्य स्थापित करके अपने भावात्मक मूल्यों को बढ़ाता है।'' अतः कहा जा सकता है कि पहचान में व्यक्ति अपने व्यवहार, अपनी क्रियाओं अथवा अपने आपको किसी अन्य व्यक्ति के अनुसार बनाने का प्रयास करता है या बना लेता है। जब हम किसी व्यक्ति की

वेशभूषा की नकल करते हैं या उसके बोलने के ढंग या हेयर–स्टाइल आदि की नकल करके उसके समान अपने आपको समझने लगते हैं तो यह तादात्मीकरण अर्थात् आत्म–पहचान है। बहुधा किशोर–किशोरियाँ सिनेमा अभिनेता के साथ अपने आप को तादात्मीकृत करते हैं। अपने माता–पिता या अध्यापक से तादात्मीकरण दैनिक जीवन में कहीं भी देखा जा सकता है।

आत्म–पहचान या तादात्म्य के द्वारा व्यक्ति अपन आपको किसी दूसरे व्यक्ति या समूह के साथ घनिष्ट रूप से संबंधित करता है या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या समूह के उद्देश्यों को अपना मान लेता है। जन्म के समय बालक का आत्म लगभग शून्य होता है। जैसे–जैसे बालक बड़ा होता है वह अनुकरण व तादात्मीकरण के द्वारा दूसरे व्यक्तियों की अनेक विशेषताओं को सीखता है।

किंबलयंग (1960) का विचार है कि–एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास भौतिक वस्तुओं और अन्य व्यक्तियों के साथ संपर्क पर निर्भर करता है। जब वह दूसरों के संपर्क में आकर क्रिया–प्रतिक्रिया और अन्तःक्रियायें करता है तो इस प्रकार से उस व्यक्ति की क्रियायें और प्रतिक्रियायें दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं। इसी प्रकार सामाजिक अन्तःक्रिया से व्यक्ति के आत्म का विकास होता है।

प्रारम्भ में बालक अपनी आवश्यकताओं की पूर्तियाँ अक्सर अपनी माँ से करता है। अतः वह प्रारम्भिक व्यवहार प्रतिमान अपनी माँ से तादात्मीकरण के आधार पर ही सीखता है। आयु बढ़ने के साथ–साथ बालक जब परिवार के अन्य सदस्यों के संपर्क में आता है तो वह इन सदस्यों से भी अनेक व्यवहार संबंधी विशेषताओं को तादात्मीकरण के आधार पर सीखता है। बालक की आयु जैसे–जैसे बढ़ती जाती है वैसे–वैसे बालक का दायरा बढ़ता जाता है। वह अपने संपर्क में आने वाले लोगों से तादात्मीकरण (पहचान) के आधार पर नये –नये व्यवहार, रूचियां, संवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ, आकांक्षायें और अभिवृत्तियाँ आदि सीखता है, जिससे उसके अन्दर आत्म–पहचान का विकास होता है।

क्रच, क्रचफील्ड और बेलेची (1962) ने आत्म की उत्पत्ति और तादात्मीकरण के विकास का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ‘‘नवजात शिशु दूसरे व्यक्तियों के आत्म में अन्तर नहीं जानता है किन्तु कुछ ही समय में वह यह अन्तर समझने लग जाता है। यह अन्तर वह अपने चारों ओर के व्यक्तियों से अन्तःक्रियाओं के आधार पर एवं तादात्मीकरण की विशेषताओं के आधार पर सीखता है। व्यक्ति अपने चारों ओर के वातावरण के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के प्रति ही अनुक्रिया नहीं करता है बल्कि वह अपने विचारों, भावनाओं, और शरीर के प्रति तादात्मीकरण के आधार पर अनुक्रिया या व्यवहार करता है। इन्हीं अनुक्रियाओं और अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप उसमें आत्म की उत्पत्ति होती है और उत्पत्ति के बाद उसमें विकास प्रारम्भ हो जाता है। बालक अपने चारों ओर के वातावरण में जैसा अपने आपको देखता है और जैसा उसे परिवार के या समाज के अन्य सदस्य देखते हैं। इसी आधार पर वह अपने आत्म–प्रत्यय का विकास करता है जो कि तादात्मीकरण के आधार पर होतें हैं। एक बार आत्म–प्रत्यय बनने के बाद यद्यपि यह स्थिर होते हैं, किन्तु नये अनुभवों के बढ़ने के साथ–साथ तादात्मीकरण के विकास के साथ–साथ इनमें परिवर्तन एवं संशोधन भी होता रहता है।

पहचान या तादात्मीकरण एवं भले–बुरे का ज्ञान

बालक स्वतंत्र बनने के प्रयासों में तादात्मीकरण (पहचान) करता है। तादात्मीकरण के द्वारा वह दूसरे लोगों के अनुरूप बनने का प्रयास करता है। प्रारम्भ में जब (पहचान) वह अपने आपको पर्यावरण से भिन्न समझने लगता है तो वह संसार की अपेक्षा अपने आपको छोटा और असहाय समझने लगता है। जैसे –जैसे वह बड़ा होता जाता है तो वह अपने माता–पिता की शक्तियों को पहचानता जाता है और उसी के अनुरूप बनने का प्रयास भी करते जाता है। लगभग 3 वर्ष की अवस्था तक अधिकांश हावभावों को अपने माता–पिता से सीखता है। वह जब और बड़ा हो जाता है तो वह अपने माता–पिता की अभिवृत्तियों को सीखता है और मूल्यों को सीखता है। वह अनुकरण व तादात्मीकरण के द्वारा अपने संरक्षकों की अभिप्रेरणाओं, नैतिक मानक और अन्य व्यक्तित्व विशेषताओं को सीखता है। 6 वर्ष की अवस्था तक वह अपने संरक्षकों के अतिरिक्त अपने साथ खेलने वाले बच्चों, अपने धार्मिक समूह और अपने समाज के लोगों के व्यवहारों का अनुकरण करता है और उनके साथ तादात्मीकरण (पहचान) करता है। 5–6 वर्ष की अवस्था तक गरीब–अमीर, काला–सफेद आदि शब्दों को अच्छी तरह से सीख जाता है। तादात्मीकरण (पहचान) का बालक के सामाजीकरण में बहुत अधिक महत्व है। लगभग 3 वर्ष की आयु से बच्चे में भले–बुरे की भावना भी जाग्रत होने लगती है। यदि अभिभावक शारीरिक ढंग के द्वारा भले–बुरे प्रमाणों का ज्ञान कराते हैं तो बच्चे में भले–बुरे की भावना उतनी ही जल्दी जाग्रत नहीं होती है जितना कि प्यार से समझाकर मौलिक दण्ड द्वारा सिखाया जाये।

9.4.1 **किशोरों में आत्म–प्रत्यय का** विकास (Development of self concept in Adolescents)

आत्म प्रत्यय (**Self concept**)

मनुष्य के पास भाषा और बुद्धि के अतिरिक्त चिन्तन की भी महत्वपूर्ण योग्यता है। चिन्तन के द्वारा व्यक्ति न केवल अपने शरीर और व्यवहार के संबंध में विचार करता है बल्कि चिन्तन के द्वारा वह यह भी विचार करता है कि दूसरों के सामने वह कैसे दिखाई देता है या समाज के अन्य लोग उसे किस रूप में देखते हैं। इस प्रकार का चिन्तन 'आत्म' (Self) और ''आत्म प्रत्यय'' (Self concept) से महत्वपूर्ण ढंग से संबंधित है।

एक व्यक्ति अपने गुणों और व्यवहार आदि के संबंध में जो मत रखता है वही उसका आत्म–प्रत्यय है। प्रत्येक व्यक्ति का आत्म–प्रत्यय उसके विचारों पर आधारित होता है तथा उस व्यक्ति के व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु होता है। व्यक्तित्व का दूसरा घटक 'शीलगुण' (Trait) है। उसके केन्द्र बिन्दु ''आत्म–प्रत्यय'' से सीधे संबंधित होते हैं।

छोटा बच्चा अपने तथा दूसरे के बीच भेद को पहचानने लगता है और इस प्रक्रिया में 'अहं' का प्रादुर्भाव होता है तथा उसका आत्मविम्ब अथवा आत्म–संप्रत्यय विकसित होता है। किस प्रकार दूसरे उस पर प्रतिक्रया करते हैं, उसके बारे में बात करते हैं, उससे अपेक्षाएं करते हैं, इन सबसे बालक आत्म–संप्रत्यय प्राप्त करता है। यह आत्म–संप्रत्यय अपने निजी अनुभवों तथा अपने बारे में बनाए आत्मविम्ब के अनुरूप बनाने के लिए किए गये अचेतन प्रयासों द्वारा निश्चित तथा स्थिर हो जाता है। किन्तु यौवनारम्भ के समय किशोरों को अभिभूत करने वाले बहुविध आवेग और परिवर्तन इसके इस स्थिर आत्म–प्रत्यय को बुरी तरह छिन्न–भिन्न कर देते हैं। आकस्मिक शरीर क्रियात्मक

परिवर्तन, जैविक आवेग, सामाजिक प्रत्याशाएं एवं अपेक्षाएं, संवेदात्मक अन्तर्नोद, बौद्धिक प्रस्फुटन ये सब उसे अपने बारे में नये सिरे से सोचने के लिए विवश कर देते हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि व्यक्ति क्या है? इसका संचेतन बोध ही नहीं बल्कि व्यक्ति क्या हो सकता है? का भी संचेतन बोध भी 'आत्म' प्रत्यय के अन्तर्गत आता है।

आत्म–प्रत्यय की परिभाषाएं

''व्यक्ति के व्यवहार, योग्यताओं और गुणों के संबंध में उसकी अभिवृत्ति, निर्णयों और मूल्यों के योग को ही आत्म –प्रत्यय कहते हैं।''

Self concept is the totality of attitudes, judgements and values of an individual relating to his behaviour, objects and qualities."

(H.J. Eysenck et.al. 1972)

आत्म–प्रत्यय व्यक्ति का आन्तरिक संसार है। इसकी रचना व्यक्ति के भावों, विचारों, आशाओं, भय, कल्पनाओं से होती है कि वह कौन है? वह कौन था? वह क्या बनेगा? इसमें उस व्यक्ति की वह अभिवृत्तियां भी सम्मिलित हैं जो उसके मूल्य के संबंध में हैं।

"Self concept is a person's inner world. It is a composite of a person's thought and feelings, striving & and hopes, fears and fantasies, his views of what he is what he has been, what he might become, and his attitudes pertaining to his worth".

(A.T. Jersild, 1965)

''आत्म –प्रत्यय का अर्थ उन प्रत्यक्षीकरण, विश्वास, भाव, अभिवृत्तियों और मूल्यों से है जिन्हें व्यक्ति अपनी विशेषताओं के रूप में देखता है।''

"Self concept, has been referred to as those perceptions, beliefs, feeling, attitudes and values which the individual views as part or characteristics of himself." – H.V. Perkins, 1958.

"Self concept is key stone of personalty." (Cattell, 1957)

''आत्म अधिक विस्तृत प्रत्यय है जिसका संबंध व्यक्ति के स्वयं के प्रत्यक्षीकरण से है। यह प्रत्यक्षीकरण सामाजिक संदर्भ में किया जाता है।''

Self as the more inclusive concept refers to individual as perceived by that individual in a socially determined form of reference. A person's self represents his own side of his perceived relationship to others.

¼T.M. New Comb, 1969½

आत्म प्रत्यय वे प्रतिमाएं हैं जो व्यक्ति स्वयं अपने संबंध में रखते हैं। आत्म प्रत्यय में व्यक्ति के विश्वास होते हैं जो एक व्यक्ति अपने शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और संवेगात्मक विशेषताओं के सम्बन्ध में रखता है।

(E.V. Hurlock, 1978)

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य के पास भाषा और बुद्धि के अतिरिक्त चिन्तन की भी महत्वपूर्ण योग्यता है। चिन्तन के द्वारा व्यक्ति न केवल अपने शरीर और व्यवहार के संबंध में विचार करता है, बल्कि चिन्तन के द्वारा वह यह भी विचार करता है कि दूसरों के सामने वह कैसा दिखाई देता है या समाज के अन्य

लोग उसे किस रूप में देखते हैं। इस प्रकार का चिन्तन आत्म (Self) और आत्म–प्रत्यय (Self Concept) से महत्वपूर्ण ढंग से संबंधित है। इस प्रकार का चिन्तन व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है। इस दिशा में किए गये अध्ययनों में देखा गया है कि आत्म एवं आत्म–प्रत्यय का विकास व्यक्ति की सामाजीकरण प्रक्रिया को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है। अतः आत्म–प्रत्यय व्यक्तित्व का केन्द्र है। आत्म व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार का महत्वपूर्ण निर्धारक है। आत्म–प्रत्यय का संबंध व्यक्ति के स्वयं के प्रत्यक्षीकरण से है। संक्षेप में आत्म–प्रत्यय में व्यक्ति की वह प्रतिमाएं निहित होती हैं जो उसके शारीरिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के संबंध में से ही है।

आत्म–प्रत्यय में दो प्रकार की प्रतिमाएं पायी जाती हैं। शारीरिक विशेषताओं के अन्तर्गत व्यक्ति की शारीरिक दिखावा, लम्बाई, चौड़ाई, रंग रूप और शारीरिक बनावट कैसी है। मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के अन्तर्गत आत्म प्रतिमाएं, विचारों, स्वतंत्रता, आत्म विश्वास, आकांक्षाएं आदि विशेषताएं और योग्यताएं होती हैं। इस प्रकार की प्रतिमाओं में वह गुण और विशेषताएं भी सम्मिलित होती हैं जिनके द्वारा व्यक्ति समायोजन करता है।

अतः मनोवैज्ञानिकों द्वारा आत्म एवं आत्म प्रत्यय के निम्नलिखित पहलू निर्धारित किए गये हैं–

1. एक व्यक्ति स्वयं अपने आपका किस प्रकार प्रत्यक्षीकरण करता है। (How a person perceives himself)
2. एक व्यक्ति अपने आपका मूल्यांकन कैसे करता है। (How a person evalute himself)
3. एक व्यक्ति स्वयं अपने संबंध में कैसा चिन्तन करता है। (How a person thinks of himself)
4. एक व्यक्ति स्वयं कैसे विभिन्न क्रियाओं द्वारा स्वयं की रक्षा करता है। (How a person attempts through various actions to enhance or defends himself)

व्यक्ति अपने चारों ओर के वातावरण के संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के प्रति ही अनुक्रिया नहीं करता है बल्कि वह अपने विचारों, भावनाओं और शरीर के प्रति अनुक्रियाओं और अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप उसमें आत्म की उत्पत्ति होती है और उत्पत्ति के बाद विकास प्रारम्भ हो जाता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक उत्पत्ति और विकास का आधार सामाजिक अन्तःक्रियाएं ही हैं।

तादात्मीकरण (Identificaton), अन्तःक्षेपण (Introjection), भाषा भूमिका निर्वहन आदि आत्म उत्पत्ति एवं विकास के निर्धारक तत्व हैं। तदात्मीकरण में व्यक्ति अपने व्यवहार, अपनी क्रियाओं अथवा अपने आपको किसी अन्य व्यक्ति के अनुसार बनाने का प्रयास करता है या बना लेता है। जब हम किसी व्यक्ति की वेश–भूषा की नकल करते हैं या उसके बोलने के ढंग या हेयर स्टाइल आदि की नकल करके उसके सामने अपने आपको समझने लगते हैं तो यह तादात्मीकरण है। प्रतीकात्मक रूप से वाह्य पदार्थ को स्वयं में आत्मसात् (विलय) करने की सुरक्षात्मक प्रवृत्ति अन्तःक्षेपण कहलाती है। उदाहरण के लिए किसी के दुख में दुखी होकर स्वयं उसके जैसा अनुभव करना अन्तःक्षेपण का

उदाहरण है। बालक माता–पिता की विशेषताओं को अपनी विशेषता समझने लगता है। अन्तःक्षेपण के द्वारा वह समाज के अन्य लोगों की विशेषताओं और व्यवहार प्रतिमानों को भी सीखता है और अपना समझने लगता है। भाषा या वाणी के अध्ययन से बालक अपनी बातें दूसरों से कह सकता है तथा दूसरों की बात को समझ सकता है। वाणी के द्वारा ही व्यक्ति समाज के मूल्यों नियमों और आदर्श आदि को सीखता है। भूमिका निर्वहन के अन्तर्गत बच्चे अभिनय, ड्रामा आदि खेलते हैं। यह भूमिका, अभिनय, माता–पिता, भाई–बहन, दादा–दादी आदि के संबंध में होते हैं। इससे वे जहां आनन्द की अनुभूति करते हैं वहीं वे अनेक व्यवहार प्रतिमान और कार्य भी सीखते हैं। बच्चों की भूमिका संबंधी ड्रामों में जो अन्तःक्रियाएं होती हैं वह अन्य क्रियाएं बालक के आत्म–विकास को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावत करती हैं। (सीकोर्ड और बैंकमैन, 1947)।

आत्म–संप्रत्यय सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकता है जिससे व्यक्ति या तो आत्मविकास और उपलब्धि की ओर अग्रसर होगा या हीन भावनाओं की ओर, निष्क्रियता की ओर। **वास्तविक आत्म–प्रत्यय** (Real or Basic self concept) इस कथन पर आधारित होता है कि ''वह कौन और क्या है।'' **आदर्श आत्म–प्रत्यय** इस कथन पर आधारित होता है कि ''**वह क्या बनना चाहेगा**'' ?

मीड (1934) के अनुसार स्व, अस्तित्व का सचेतन बोध है। इसके अनुसार स्व अनिवार्यतः सामाजिक अनुभव से उत्पन्न सामाजिक संरचना है। यह रोजर्स, मैश्लो तथा अन्य मनोविज्ञानियों की परिभाषा के अनुरूप नहीं है। उनके अनुसार व्यक्ति क्या है, इसका सचेतन बोध ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु व्यक्ति क्या हो सकता है इसका सचेतन बोध ही होना आवश्यक है। ये मनोविज्ञानी ''क्यों है?'' से ''क्या होने की संभावना है?'' को कहीं अधिक महत्व देते हैं। इसका आशय यह है कि आत्म एक बार में ही उपलब्ध होने वाली चीज नहीं है। यह एक निरंतर होने वाली गतिशील प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति के अचेतन पक्ष निरंतर प्रकट होकर उसके व्यक्तित्व में नए आयाम जोड़ते हैं, उसकी अभिवृद्धि करते हैं।

,

आत्म प्रत्यय का विकास (Development of Self Concept)

जीवन के प्रथम 5 वर्ष अर्थात् शैशवास्था में सामान्यतया विकास की गति तीव्र होती है। इसी प्रकार (13 से 18 वर्ष) किशोरावस्था में जीवन की वृद्धि की गति पुनः तीव्र हो जाती है। इसका यह आशय नहीं है कि अन्य अवस्थाओं में कोई विकास नहीं होता है। अन्य अवस्थाओं में विकास की गति इतनी धीमी होती है कि वह दिखाई नहीं पड़ती है। उक्त से स्पष्ट है कि शैशवावस्था एवं किशोरावस्था किसी व्यक्ति के जीवन के सर्वाधिक निर्णायक काल हैं।

आत्म–प्रत्यय का विकास बच्चे के प्रथम वर्ष के समाप्त होते–होते प्रारम्भ हो जाता है। प्रथम वर्ष के अन्त तक वह अपने आपको एक अलग प्राणी के रूप में समझने लगता है। वह अपनी आवाज से पहले अपनी माँ की आवाज पहचानता है। इसी प्रकार वह शीशे में अपनी शक्ल से दूसरों की शक्ल पहले पहचानना सीखता है। लगभग तीन चार वर्ष की अवस्था तक बालक सेक्स संबंधी अन्तर समझने ही नहीं लगता है बल्कि वह बालों और कपड़ों के रखरखाव के आधार पर लड़के, लड़कियों, स्त्री, पुरूषों को अलग –अलग

पहचानने भी लग जाता है। जब वह विद्यालय जाना प्रारम्भ करता है तो उसका यह अन्तर और अधिक स्पष्ट हो जाता है, परन्तु सन्धि अवस्था में वह दो सेक्स के अन्तर को पूर्णतः पहचान जाता है।

किशोरावस्था में सामान्य रूप से विकास की गति तीव्र हो जाती है। यही यौवनारम्भ का समय भी होता है। अतः किशोरावस्था को आँधी और तूफान की अवस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में किशोर का आत्म प्रत्यय भी विकसित होता है। बालक का शारीरिक एवं मानसिक दोनों विकास होता है। फलतः इस अवस्था में आत्म–प्रत्यय में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है।

किशोरावस्था की समाप्ति तक धारणाएँ, मूल्य, अभिवृत्ति, पसंद, नापसन्द, रूचियां सामान्यतः जीवनभर के लिए स्थिर हो जाती हैं। फलतः व्यक्ति में समय के साथ आत्म–प्रत्यय में बहुत धीमी गति से परिवर्तन होता है।

किशोरों में आत्म प्रत्यय का विकास (Development of self concept in adolescents)

किशोर अपने चारों ओर के वातावरण में जैसा अपने आप को देखता है और जैसे उसके परिवार के लोग और परिचित उसे देखते हैं, इसी आधार वह अपने आत्म–प्रत्यय का निर्माण करता है। यही कारण है आत्म–प्रत्यय को दर्पण प्रतिमा (Mirror image) कहा गया है।

"The child's concept of himself as a person to a mirror image of what he believes significant people in his life think of him."

(Harlock, 1975)

कभी–कभी जब परिवार के लोग बालक को शैतान समझने लगते हैं तब तो खेल के साथी भी इसी प्रकार का मत बना लेते हैं, तब बालक भी अपना आत्म–प्रत्यय इसी प्रकार का बनाता है जिसमें वह अपने आपको शैतान बच्चे के रूप में देखता है। अनुभव की कमी के कारण, कभी–कभी दूसरों के द्वारा उसके प्रति किए गये व्यवहार को गलत समझ लेता है।

बालक की आयु जैसे–जैसे बढ़ती जाती है वैसे–वैसे शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रतिमाएं आपस में एक–दूसरे से फ्यूज़ हो जाती हैं। यौवनारम्भ के समय किशोर को अभिभूत करने वाले बहुविधि आवेग और परिवर्तन उसके स्थिर आत्म–संप्रत्यय को बुरी तरह छिन्न–भिन्न कर देते हैं। आकस्मिक शरीर क्रियात्मक परिवर्तन, जैविक आवेग, सामाजिक प्रत्याशाएं एवं अपेक्षाएं, संवेगात्मक अन्तर्नोद, बौद्धिक प्रस्फुटन, ये सब उसे अपने बारे में नए सिरे से सोचने के लिए विवश कर देते हैं। अतः किशोर के समक्ष नवीन आत्म–संप्रत्यय विकसित करना आवश्यक हो जाता है। यह कृत्यक प्रायः बहुत कठिन होता है, किन्तु सामाजिक और प्रौद्योगिकी परिवर्तनों के कारण आज और कठिन हो गया है। आज के युवाओं को ऐतिहासिक मिसालों से कोई निर्देशन अथवा दिशा नहीं मिलती है। नई तकनीकी का विकास, प्रचुर उत्पादकता, स्वचलीकरण पर्याप्त फुरसत, द्रुतगामी सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन तथा विशाल व्यक्तित्वहीन संगठन इस समाज की सम्भावित विशेषताएं होंगी। आज का समाज कार्यकुशलता, संगठन, शक्ति एवं उत्पादकता की दौड़ में मानवीय आवश्यकताओं एवं हितों की उपेक्षा कर रहा है। इसके कारण आज का युवा तत्कालीन दृष्टि चाहने वाला, वर्तमान की ओर उन्मुख, विलास प्रिय एवं निष्क्रिय

बन गया है। अधिक संभ्रम, घबराहट, अस्थिरता तथा व्यक्तित्व विखण्डन इसके परिणाम हैं। किशोरावस्था में किशोर आद्योपान्त जीवन को प्रभावित एवं संगठित करने वाली अपनी मूल्य संरचना के स्पष्टीकरण का प्रयास करता रहता है।

बालक में प्रारम्भिक अवस्था में जो आत्म–प्रत्यय बनते हैं उन्हें प्राथमिक आत्म–प्रत्यय कहा जाता है। यह आत्म –प्रत्यय माता–पिता के शिक्षण के आधार पर अथवा परिवार के सदस्यों के शिक्षण के आधार पर बनते हैं। इन प्राथमिक आत्म–प्रत्ययों में भी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की आत्म प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। जब बालक दूसरे बच्चों के साथ खेलना प्रारम्भ करता है या स्कूल जाना प्रारम्भ करता है तब उसमें पहले से बने प्राथमिक प्रत्ययों का संशोधन एवं परिवर्द्धन होने लगता है। इस प्रकार आत्म–प्रत्यय बहुधा इस बात पर आधारित होते हैं कि दूसरे लोग बालक को किस प्रकार और किस दृष्टि से देखते हैं। बहुधा यह देखा गया है कि बालकों का प्राथमिक आत्म–प्रत्यय अधिक अनुकूल होता हैं तथा द्वितीयक आत्म प्रत्यय उतना उनके अनुकूल नहीं होता है। अध्ययनों में देखा गया है कि समय–समय पर बालक अपने आत्म–प्रत्ययों में अपने सामाजिक और सांस्कृतिक समूहों के मूल्यों, नियमों प्रतिमानों के अनुसार संशोधन करते रहते हैं।

किशोरावस्था में बालक अपने जाति–प्रजाति के अनुसार व्यवहार भी करने लग जाते हैं। उसका आत्म–प्रत्यय उसके अनुसार बढ़ जाता है।

किशोर अपने परिवार की प्रतिष्ठा और अपने परिवार के सामाजिक और आर्थिक स्तर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह परिवार की और उसकी प्रतिष्ठा तथा सामाजिक आर्थिक स्तर, माता–पिता के व्यवसाय से निर्धारित होता है। किशोर इसे अपने आत्म प्रत्यय से जोड़ लेता है। बालक और बालिकाओं के आत्म–प्रत्यय में सार्थक अन्तर होता है। किशोरों के आत्म–प्रत्यय को कुंठा महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। (दीक्षित, 1985)। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में आत्म–प्रत्यय अस्थिर होता हैं। आयु बढ़ने के साथ–साथ उसमें स्थिरता आती है। (लाइवली, 1962)।

आत्म–प्रत्यय व्यक्ति के विचारों और अनुभवों से बनता है। अतः आत्म–प्रत्यय भी परिवर्तिन होते रहते हैं। (जरसील्ड 1971)। व्यक्ति जितना ही कम आक्रामक होता है उसका आत्म–प्रत्यय उतना ही उच्च होता है। (बेरी 1974, टेनीवेथ 1980, थामस 1985)। जिन प्रयोज्यों के धार्मिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, आर्थिक मूल्य और ज्ञान मूल्य यदि उच्च स्तर के होते हैं उन प्रयोज्यों का आत्म–प्रत्यय अपेक्षाकृत अच्छा होता है। (कमलेश रानी और डी0एम0 श्रीवास्तव 1992)। जिन प्रयोज्यों का गृह समायोजन, स्वास्थ्य समायोजन, सामाजिक समायोजन संवेगात्मक समायोजन और शैक्षिक समायोजन, उच्च होता है उन किशोरों का आत्म–प्रत्यय अपेक्षाकृत अच्छा होता है। (कमलेश रानी और डी0एम0 श्रीवास्तव, 1992)।

9.4.2 किशोरों में आत्म–सम्मान (स्वबोध) का विकास (Development of Self Esteem in Adolescents)

आत्म–सम्मान (स्वबोध) किशोरों के लिये ही नहीं अपितु जीवन के प्रत्येक चरण में मनुष्यों के लिये आवश्यक आवश्यकता है। छोटा बच्चा अपने और दूसरों के बीच भेद को पहचानने लगता है और इस प्रक्रिया में अहं (Ego) का प्रादुर्भाव होता है तथा उसका

आत्मबिम्ब एवं आत्म–संप्रत्यय विकसित होने लगता है। 1940 के दशक में मैकड्यूगल ने स्वस्थायीभाव का उल्लेख किया था, जो अन्य सभी स्थायी भावों को संगठित करता है तथा व्यक्तित्व को सुसंगठित, निरंतरता एवं स्थिरता प्रदान करता है।

किस प्रकार दूसरे उस पर प्रतिक्रिया करते हैं, उसके बारे में बात करते हैं या उससे अपेक्षायें रखते हैं इन सबसे बालक अपना आत्म–संप्रत्यय प्राप्त करता हैं। यह आत्म–संप्रत्यय अपने निजी अनुभवों तथा अपने बारे में बनाये आत्मबिम्ब के अनुरूप बनने के लिए किये गये अचेतन प्रयासों द्वारा निश्चित तथा स्थिर हो जाता है। किन्तु यौवनावस्था के समय किशोर को अभिभूत करने वाले आवेगों और परिवर्तन उसके इस आत्म–संप्रत्यय को छिन्न–भिन्न कर देते हैं। आकस्मिक शारीरिक एवं क्रियात्मक परिवर्तन, जैविक आवेग, सामाजिक प्रत्याशायें एवं अपेक्षायें, संवेगात्मक अन्तर्नो, एवं बौद्धिक विकास में सभी किशोरों को अपने बारे में नये सिरे से सोचने के लिये विवश कर देते हैं। अतः किशोरों के समक्ष प्राथमिक कृत्य यह है कि एक स्थिर तथा समाकलित भावना एवं आत्म–सम्मान का विकास।

9.4.2 आत्म–सम्मान (स्वबोध) (Self Esteem) का विकास

सर्वप्रथम आत्म के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विचार विलियम जेम्स (1890) ने व्यक्त किये। जेम्स ने आत्म–सम्मान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण अभिवृत्ति जो एक व्यक्ति विकसित करता है वह है अपने सम्बन्ध में अभिवृत्ति/अपने स्वयं का यह मूल्यांकन आत्म–सम्मान कहलाता है।

"Probably the most important attitude a person develops is the attitude about self. This evaluation of one self is known as self esteem." William James,1890.

बैरन एवं बाइरनी (2003) आत्म–सम्मान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, ''प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला आत्म–मूल्यांकन जिसमें वह अपनी स्वयं के प्रति अभिवृत्तियों का मूल्यांकन करता है। उसका यह मूल्यांकन धनात्मक और ऋणात्मक दो विमा वाला होता है।

"The self evaluation made by each individual. One's attitude toward one self along a positive and negative dimension". - Baran and Byrne, 2003.

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आत्म–सम्मान को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि व्यक्ति की अपने स्वयं के संबंध में धनात्मक एवं ऋणात्मक अभिवृत्ति ही आत्म–सम्मान है।

आत्म–सम्मान के प्रकार (Types of self esteem)

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह भी स्पष्ट है कि आत्म–सम्मान मुख्यतः दो प्रकार का होता है–

1. धनात्मक आत्म–सम्मान (Positive self esteem)
2. ऋणात्मक आत्म–सम्मान (Negative self esteem)

धनात्मक आत्म–सम्मान का अर्थ है व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति अति उच्च मूल्यांकन करता है। जब किशोरों में स्वयं को पसंद करने की तीव्र भावनायें पायी जाती हैं तो इसे धनात्मक आत्म–सम्मान कहते हैं। ऋणात्मक आत्म–सम्मान का अर्थ है कि स्वयं के प्रति

निम्न मूल्यांकन करना। जब किशोर अपना अपनी वर्तमान क्षमता से कम मूल्यांकन करता है तो इसे ऋणात्मक आत्म मूल्यांकन कहते हैं। वह स्वयं को कम अच्छा बुरा या कम गुणों वाला समझता है। किशोर अपना उच्च या धनात्मक मूल्यांकन करे अथवा वह अपना निम्न या ऋणात्मक मूल्यांकन करें। दोनों ही अवस्थाओं में उसका मूल्यांकन दूसरे लोगों के मत एवं पूर्वानुभवों पर आधारित होता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के प्रति दूसरे लोगों का क्या मत है और व्यक्ति के विशिष्ट अनुभव क्या है? यह दोनों कारक उसके आत्म–सम्मान को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं।

ड्यूटन (1995) और नेजलेक एवं उनके साथियों (Nez leck et.al. 1977) ने अपने –अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि जो व्यक्ति निम्न या ऋणात्मक आत्म–सम्मान वाले होते हैं उनके व्यवहार के संबंध में भविष्यवाणी आसानी से किया जा सकता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति उच्च या धनात्मक आत्म–सम्मान वाले होते हैं उनके व्यवहार के संबंध में भविष्यवाणी अधिक कठिन होती है।

चाहे हम स्वयं की बात करें या सम्मान की दोनों ही अस्पष्ट बहुआयामी पद है जो अलग–अलग व्यक्तियों के लिए अलग–अलग अर्थ रखते हैं। स्वयं व्यक्तित्व की समग्रता को समेटने के साथ–साथ उसके सम्मान एवं आस्तित्व को सूचित करने वाला एक व्यापक संप्रत्यय है। मीड (1934) ने 'स्व' को परिभाषित करते हुए कहा कि ''स्व'' अस्तित्व का सचेतन बोध है, 'स्व' अनिवार्यतः सामाजिक अनुभव से उत्पन्न सामाजिक संरचना है और आत्म–सम्मान निरंतर होने वाली गतिशील प्रक्रिया है, जिसमें वातावरण और उसके आस–पास के संप्रत्यय उसके लिए प्रतिपूर्ति का विकास करते हैं और किशोर उस वातावरण के ही आधार पर स्वयं के बारे में धारणा विकसित करते हैं। जिसे समाज के अन्य व्यक्ति भी उसकी प्रवृत्तियों के आधार पर उसके बारे में धारणा विकसित करें।

आत्म–सम्मान एक अलग एकल प्रत्यय है और यह प्रत्यय सार्वभौमिक प्रत्यय है। अर्थात् किशोरावस्था में अच्छे आत्म–सम्मान के विकास की भावना पायी जाती है। यह अलग बात है कि कभी यह मूल्यांकन खेल से सम्बन्धित होता है तो कभी पढ़ाई और कॉलेज से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार उनका मूल्यांकन अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग तरीके से होता है। –Welham, 1995.

आत्म–सम्मान का मूल्यांकन निम्न से उच्च विमा की ओर

आत्म–सम्मान का मूल्यांकन निम्न से उच्च विमा पर किया जाता है या धनात्मक से ऋणात्मक विमा पर किया जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने आत्म–सम्मान का मूल्यांकन उच्च से निम्न विमा पर भी किया है। स्ट्राडमैन (1996) ने आत्म–सम्मान के मूल्यांकन की एक और विधि भी बतायी है। इनके अनुसार व्यक्ति से पहले उसके वास्तविक आत्म (Real self) के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते हैं और फिर उसके आदर्श आत्म (Ideal Self) के संबंध में प्रश्न पूछे जाते हैं। दोनों प्रकार के आत्म में जो अन्तर होता है वह आत्म–सम्मान को दर्शाता है। पहले दोनों प्रकार के आत्म का मापन श्रेणी मूल्यांन की सहायता से करते हैं। इससे दोनों आत्म के संबंध में अलग–अलग प्राप्तांक प्राप्त हो जाता है।

अनेक मनोवैज्ञानिकों (Browne, 1992, Wegmentand Taylor, 1995) का विचार है कि आत्म मूल्यांकन के संबंध में महत्वपूर्ण सूचना व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से प्राप्त होती है। आत्म–सम्मान का संबंध व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धि से भी होता है। इस दिशा में हुए अध्ययन (Steele, 1992) से यह स्पष्ट हुआ है कि प्राइमरी शिक्षा स्तर पर नीग्रो बच्चों का आत्म–सम्मान उच्च होता है। लेकिन उनकी शैक्षिक उपलब्धि निम्न होती है। दूसरी ओर अमेरिका के श्वेत बच्चों का आत्म–सम्मान प्राइमरी स्तर पर निम्न होता है। लेकिन उनकी शैक्षिक उपलब्धि उच्च स्तर की होती है। हाईस्कूल के स्तर पर नीग्रो बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि उच्च हो जाती है। लेकिन उनका आत्म–सम्मान निम्न हो जाता है।

आत्म–सम्मान में परिवर्तन (Changes in Self-esteem)

जीवन के जो ऋणात्मक अनुभव होते हैं उनका आत्म–सम्मान पर ऋणात्मक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार से जीवन के जो धनात्मक अनुभव हैं उनका आत्म–सम्मान पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये–परिवार में, स्कूल में तथा साथियों के साथ जब कोई समस्या उत्पन्न हो जाती है तब इस अवस्था में व्यक्ति का आत्म–सम्मान गिरता है और वह धनात्मक से कम धनात्मक हो जाता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जब व्यक्ति की चिंता बढ़ती है तब उसका आत्म–सम्मान महत्वपूर्ण ढंग से बढ़ जाता है।–(Katz and Low, 1999)। सामान्य रूप से देखा जाय तो किशोरावस्था का आत्म–सम्मान लगभग स्थिर एवं निरंतर रहता है। क्योंकि हम अपने आत्म–सम्मान को बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार के क्रियाओं का प्रयोग करते रहते हैं।–(Tesser, 2001)। जो किशोर धनात्मक आत्म–सम्मान वाले होते हैं वह अनुकूल परिस्थितियों और घटनाओं को याद करते रहते हैं। इससे उनका उच्च आत्म–सम्मान बना रहता हैं और इसके विपरीत जो किशोर ऋणात्मक आत्म–सम्मान वाले होते हैं वे प्रतिकूल परिस्थितियों या घटनाओं को अधिक याद करते रहते हैं। इससे उनका ऋणात्मक आत्म–सम्मान उसी ऋणात्मक प्रकार का बना रहता है।– (Story, 1998)। समाज में धनात्मक आत्म–सम्मान को व्यक्ति अच्छा समझते हैं। इसलिये आत्म–सम्मान को कोई परिवर्तित भी करना चाहता है तो वह अपने आत्म–सम्मान को ऋणात्मक आत्म–सम्मान से धनात्मक बनाना चाहता है। रोजर्स ने रोगी केन्द्रित चिकित्सा पद्धति द्वारा वास्तविक आत्म (Real Self) और आदर्श आत्मसम्मान (Ideal Self) के अन्तर को कम करके व्यक्ति के आत्म–सम्मान के स्तर को बढ़ाया है।

अपने आत्म–सम्मान को बढ़ाने के लिए किशोर अपने मनपसंद के कपड़े पहनते हैं–(Kwon, 1994)। आत्म–सम्मान को बढ़ाने के एक अध्ययन के अनुसार अपने विचारों को जीवन की धनात्मक दिशा में ले जाना और इसी प्रकार की सोच को विकसित करना चाहिए– (Mc Guire & Mc Guire 1996)। पारस्परिक अन्तःक्रियाओं के संबंध में धनात्मक सोच से भी आत्मसम्मान बढ़ता है– (Leary et al., 1998)।

किशोरों का आत्म–सम्मान ऋणात्मकता की ओर तब बढ़ता है जब उनके माता–पिता उन्हें तिरस्कृत करते हैं, उन्हें अच्छे कपड़े पहनने को नहीं मिलते हैं। व्यक्ति का निष्पादन जब दुर्बल प्रकार का होता है तब भी उसका आत्म–सम्मान ऋणात्मकता की

ओर बढ़ता है– यह भी देखा गया है कि जब किशोरों के पारस्परिक सम्बन्ध दुर्बल या खराब होते हैं तब भी उसका आत्म–सम्मान ऋणात्मकता की ओर बढ़ता है।– (Alexander & Somers, 2000)।

अतः आवश्यक है कि किशोर अपने आत्म–सम्मान को बनाये रखने हेतु प्रयत्नशील रहे। माता–पिता, शिक्षकों और साथी मित्रों को चाहिए कि वह अपने लोगों के आत्म–सम्मान को बढ़ाने वाले अनुभवों को उन्हें सुनाये। आत्म–सम्मान बढ़ाने के तरीकों को अपनाये जिससे आत्म–सम्मान बढ़ता है।

9.5 सारांश

किशोरावस्था में बालक–बालिकाओं के अन्दर तेजी से मानसिक विकास की प्रक्रिया चलती है, जिसके कारण अनेक प्रकार के सामाजिक परिवर्तन उनके अंदर होते हैं। इस अवस्था में बालक सामाजिक व्यवहार वैसे ही करने लगता है जैसा कि वह विभिन्न परिस्थितियों में वयस्क व्यक्तियों को देखते हुए करता है। किशोरावस्था में विशेष रूप से उनके साथी समूहों का उनके ऊपर विशेष प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था में विपरीत लिंग के प्रति खिंचाव बढ़ता है। विपरीत लिंग के साथ अधिक से अधिक समय बिताना चाहते हैं। उनके नवीन सामाजिक समूह बनते हैं। वह अनेक प्रकार के खेलों में रूचि लेने लगाते हैं। मित्रों के चयन में भी वह नवीन मूल्यों को अपनाता हैं। उनमें सामाजिक स्वीकृति के भी नये मूल्य विकसित होते हैं। नेताओं के चयन में भी वह नये मूल्यों को अपनाता है। इस अवस्था के अंत तक किशोर या किशोरी उन्हीं के ओर अधिक आकर्षित होते हैं या मित्रता के लिए आगे बढ़ते हैं जिनके मूल्य या रूचि उनके समान होती है।

पहचान या तादात्म्य का विकास किशोरावस्था में होने लगता है। इसमें किशोर अपने व्यवहार, अपनी क्रियाओं या अपने–आपको किसी अन्य व्यक्ति के अनुसार बनाने का प्रयास करता है। वह अपने–आपको किसी दूसरे समूह के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित करने का प्रयास करता है। वह इसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों की अनेक विशेष्ताओं को सीखता है।

किशोरों में आत्म–प्रत्यय का विकास तेजी से होता है। आत्म–प्रत्यय एक प्रकार की वे प्रतिमाएँ हैं जो व्यक्ति स्वयं अपने सम्बन्ध में रखते हैं। आत्म–प्रत्यय में व्यक्तियों के विश्वास होते हैं जो एक व्यक्ति अपने शारीरिक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और संवेगात्मक विशेषताओं के सम्बन्ध में रखते हैं। वास्तविक आत्म–प्रत्यय इस कथन पर आधारित होता है कि वह कौन और क्या है।

आत्म प्रत्यय का विकास बच्चे में प्रथम वर्ष के समाप्त होते –होते प्रारम्भ हो जाता है। प्रथम वर्ष के अंत तक वह अपने –आपको एक अलग प्राणी के रूप में समझने लगता है। किशोरावस्था में आत्म–प्रत्यय विकास की गति तीव्र हो जाती है।

आत्म–सम्मान या स्वबोध किशोरों के लिए ही नहीं अपितु जीवन के प्रत्येक चरण में मनुष्यों के लिए आवश्यक है। आत्म–सम्मान एक प्रकार से स्वयं के सम्बन्ध में सकारात्मक या नकारात्मक अभिवृत्ति होती है। यह एक अलग एकल प्रत्यय है और यह प्रत्यय एक सार्वभौमिक प्रत्यय है। अर्थात् किशोरावस्था में एक अच्छे आत्म–सम्मान के

विकास की भावना पायी जाती है। यह आवश्यक है कि किशोर अपने आत्म–सम्मान को बनाये रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे।

9.6 शब्दावली

सामाजिक परिवर्तन या सामाजिक विकास	:	सामाजिक विकास की प्रक्रिया का बालक के जीवन में विशेष महत्व होता है। इसी प्रक्रिया के माध्यम से बालक में उन गुणों का विकास होता है जो कि किसी सभ्य एवं सामाजिक व्यक्ति के व्यवहार में पाये जाते हैं। नवीन व्यवहारों का विकास रूचियों में परिवर्तन एवं मैत्री सम्बन्धों में विस्तार आदि सामाजिक विकास या सामाजिक परिवर्तन का द्वारा ही सम्भव होता है।
आत्म पहचान या तादात्म्य	:	इसका अर्थ यह है कि आत्म पहचान के द्वारा व्यक्ति अपने आपको किसी दूसरे व्यक्ति या समूह के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित करता है या वह दूसरे व्यक्ति या समूह के उद्देश्यों का अपना मान लेता है।
आत्म प्रत्यय	:	एक व्यक्ति अपने गुणों और व्यवहार आदि के संबंध में जो मत रखता है, वही उसका आत्म प्रत्यय है। आत्म–प्रत्यय व्यक्ति का आंतरिक संसार है। इसकी रचना उसके भावों, विचारों, आशाओं, भय, कल्पनाओं से होता है कि वह कौन है? वह कौन था? वह क्या बनेगा? इसमें उसकी अभिवृत्ति भी शामिल है जो उसके मूल्य के सम्बन्ध में है।
स्वबोध या आत्म –सम्मान*	:	आत्म प्रत्यय एक प्रकार कि प्रतिमाएं हैं जो व्यक्ति अपने सम्बन्ध में रखता है। व्यक्ति की अपने स्वयं के सम्बन्ध में सकारात्मक या नकारात्मक अभिवृत्ति ही आत्म –सम्मान या स्वबोध है।

9.6 प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. बालक के व्यक्तित्व का स्वरूप का निर्माण विशेषकर उसके ....और उसके शीलगुण से होता है।
2. किशोरावस्था में सामाजिक परिवर्तन ....गति से होता है।
3. किशोरावस्था में.................. सामाजिक समूहों का निर्माण होता है।
4. किशोरावस्था में नेताओं के चयन में ....का विकास होता है।

5. आत्म पहचान के द्वारा व्यक्ति अपने आपको किसी............साथ धनिष्ठ रूप से सम्बन्धित करता है।
6. बालक स्वतंत्र बनने के लिए क्या करता है?
   1. तादात्मीकरण, 2. आत्म–प्रत्यय का विकास 3. स्वबोध का विकास 4. कुछ भी नहीं
7. व्यक्ति अपने गुणों और व्यवहार आदि के संबंध में जो मत रखता है उसे क्या कहते हैं?
   1. तादात्मीकरण 2. आत्म–प्रत्यय 3. स्वबोध 4. चिन्तन
8. आदर्श आत्म–प्रत्यय इस कथन पर आधारित होता है कि ''...........'' चाहेगा।

उत्तर – 1. आत्म बोध 2. तीव्र 3. नवीन 4. नवीन मूल्यों
5. दूसरे व्यक्ति या समूह के, 6. तादात्मीकरण, 7. आत्म–प्रत्यय
8.'वह क्या बनना'

8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) Adelson, J. (1980) : HandBook of Adolescent Phychology.
(2) Hur Lock, E.B. (1984) : Developmental Psychology, Mc Graw Hill.
(3) Lal, J.N. & Srivastava, Anita (Sixth Edition 2012/13) : नवीन विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा।
(5) Singh, R.N. (2009) : आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा।
(6) Winder, Z, Human Development. Alfredknof N.Y.
(7) Labert : Developmental Psychology. Sage Publication, New Delhi.

9.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. किशोरावस्था में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।
2. किशोरावस्था में आत्म–पहचान या तादात्मीकरण पर निबन्ध लिखिए।
3. किशोरावस्था में होने वाले आत्म–प्रत्यय विकास का वर्णन कीजिए।
4. किशोरावस्था में विकसित होने वाले स्वबोध या आत्म–सम्मान पर नोट लिखिए।

इकाई 10. यौन-रुचि एवं व्यवहार, परिवार एवं साथी-समूहके साथ संबंध(Sex-Interest and Behavior, Relationships with Family and Peer group)

इकाई संरचना–

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 किशोरावस्था में यौन रुचि एवं व्यवहार

10.3 किशोरावस्था में परिवार एवं साथी समूह के साथ सम्बन्ध

10.4 सारांश

10.5 शब्दावली

10.6 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न एवं उनके उत्तर

10.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.8 निबंधात्मक प्रश्न

10.0–प्रस्तावना

व्यक्ति प्रत्येक आयु में अपने सामाजिक परिवेश की उपज होता है। जैसे–जैसे वह बाल्यावस्था में आगे बढ़ता जाता है उसका सामाजिक दायरा विशाल होता जाता है। अभी तक बालक घर के बाहर एक ही टोली में रहता था। लेकिन उस तरह अब वह नहीं रहता है। उसकी रूचियाँ एवं उसके अनुभव अब विशाल होते हैं। अधिक बड़े पैमाने पर सामाजिक संपर्क रखने से वह यह भी सीख जाता है कि विषमलिंगी व्यक्तियों के साथ किस तरह से व्यवहार किया जाता है। सामाजिक परिस्थितियों में किशोर का व्यवहार विषमलिंगियों से अलग तरह का होता है और समलिंगियों से अलग तरह का। सामाजिक क्रिया–कलाप चाहे वह समलिंगी के साथ हो या विषमलिंगी के साथ विद्यालय में अपनी पराकाष्ठा पर होता है। वैसे तो यौवनावस्था में ही जनेन्द्रियों में परिपक्वता आ जाती है और किशोरावस्था में शुरू में यौन रूचियाँ अधिकतर शारीरिक अंतरों पर केन्द्रित होती हैं। लैंगिक समताओं के समय होने वाले विकास के साथ किशोर की विषमलिंगियों प्रति रूचि का रूप कुछ बदल जाता है। किशोरावस्था के प्रारम्भिक दिनों में जो रूचि जागृत होती है उसका स्वरूप प्रणयात्मक होता है। यौवनारम्भ काल विषमलिंगी के प्रति लाक्षणिक रूप से किशोरों में इसका भाव होता है जो बदलते प्रेम का रूप ले लेता है। विषमलिंगियों में रूचि पैदा होने के साथ सदैव उनका ध्यान खींचने की इच्छा होती है। किशोरावस्था मे लैंगिक बातों के बारे में जिज्ञासा घटने लगती है। बशर्ते किशोरों को अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए अभीष्ट जानकारी मिल चुकी हों। फिर भी लैंगिक बातों में अभी उसकी रूचि होती रहती है। जब लड़के या लड़कियाँ समलिंगियों के साथ होते हैं तब वह प्रायः लैंगिक बातों के बारे में बात करते हैं। ऐसी अनेक रूचियाँ जब किशोरावस्था में यौन संबंधी विकसित होती हैं।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे कि–

- किशोरावस्था में यौन रूचि एवं यौन व्यवहार से क्या तात्पर्य है ?
- किशोरावस्था में परिवार एवं साथी समूह के साथ कैसा सम्बन्ध होता है ?

10.2 किशोरावस्था में यौन रूचि एवं व्यवहार

किशोरावस्था में बालकों एवं बालिकाओं को अपनी भूमिकाएँ उचित और संगत तरीके से निभानी पड़ती हैं। उन्हें किशोरावस्था में लिंग संगत व्यवहार (Sex Relevant behavior) सीखना पड़ता है। उसी अनुरूप व्यवहार करना पड़ता है।

किशोरावस्था में लिंग संगत व्यवहार का अधिगम आवश्यक होता है। इस अवस्था में लड़कों को पुरूषों की भांति तथा लड़कियों को महिलाओं की भांति व्यवहार सीखना पड़ता है। इसके अलावा विपरीत लिंग के प्रति उचित तथा प्रासंगिक व्यवहार भी करना सीखना पड़ता है। विपरीत लिंग के प्रति प्रासंगिक व्यवहार और अनुमोदित लैंगिक व्यवहार की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन किशोरावस्था में कुछ मात्रा में सामाजिक दबाव से देखा जाता है और कुछ उसका स्वयं का विपरीत लिंग के प्रति रूचि का प्रभाव होता है।

लैंगिक रूचियों में वृद्धि के कारण किशोरावस्था के किशोर एवं किशोरी एक दूसरे के बारे में ज्यादा से ज्यादा सूचनाएँ तथा जानकारियां भी करने की कोशिश करते हैं। कुछ किशोरों को यह लगता है कि वह अपने माता–पिता से सब कुछ सीख सकते हैं या पूछकर जानकारी एकत्रित कर सकते हैं जो वह लैंगिक व्यवहार के बारे में जानना चाहते हैं। परिणामतः वह सूचना एकत्रित करने वाले हर माध्यम से लैंगिक कार्यों एवं व्यवहार के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं–कालेज तथा स्कूलों से Sex Hygiene courseअपने मित्रों से बातचीत करके, लैंगिक कार्यों की जानकारी देने वाली किताबें, हस्तमैथुन, जार–मुहब्बत, आलिंगन और लैंगिक संसर्ग का प्रायोगिक अनुभव करते हैं। किशोरावस्था के अन्त तक अधिकतर किशोर एवं किशोरी अपनी उत्सुकता को शान्त तथा संतुष्टि के लिये पर्याप्त मात्रा में जानकारी एकत्रित कर लेते हैं।

अध्ययनों से यह पता चला है कि किशोरावस्था में किशोरी प्राथमिक रूप से यह जानने के लिये ज्यादा उत्सुक होती है कि गर्भधारण कैसे रोका जाये ?, दूसरी तरफ किशोर इसकी जानकारी रखना चाहते हैं कि लैंगिक क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली बीमारियां कौन–कौन सी हैं, लैंगिक क्रियाओं में आनन्द की प्राप्ति, लैंगिक संसर्ग और गर्भधारण को रोकना।

लैंगिक रूचियों तथा व्यवहारों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

1. बहुलैंगिकता
2. अनुमोदित लैंगिक भूमिकाएँ

इसमें प्रथम का आशय विपरीत लिंग के प्रति उचित और प्रासंगिक व्यवहार से है जो कि बालक और बालिका दोनों के लिये सरल नहीं होता है। क्योंकि बचपनावस्था में वह अपना अलग समूह तथा गुट बनाता है और अपनी अलग रूचि रखता है तथा यौवनारम्भ में बालक और बालिका विपरीत लिंग के प्रति विरोध की भावना रखते हैं। लेकिन अब वे लैंगिक रूप से परिपक्व होते हैं। अर्थात् किशोरावस्था में बालक और बालिका दोनों को ही विपरीत लिंग के प्रति नयी अभिवृत्ति और नयी सोच का निर्माण करना पड़ता है। नयी रूचियों का विकास करना पड़ता है और नयी परिस्थितियों जिसमें वह होते हैं उसके प्रति अपना दृष्टिकोण भी बदलना पड़ता है।

द्वितीय–अनुमोदित लैंगिक भूमिका का आशय ऐसे व्यवहार से है जो उनके लिंग से सम्बन्धित उचित और प्रासंगिक व्यवहार होता है। यह प्रासंगिक व्यवहार भी उन्हें सीखना पड़ता है और वह उनके लिये आवश्यक भी होता है। यह प्रासंगिक और अनुमोदित व्यवहार लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के लिये ज्यादा कठिन होता है। क्योंकि एक लड़की ही मां, बहन, बहू और पत्नी होती है और इन भूमिकाओं में होकर प्रासंगिक व्यवहार करना लड़कियों के लिये लड़कों से ज्यादा कठिन होता है। यह बात लड़कियों को शुरू से अपने घर में सिखाई भी जाती हैं और वह हमेशा अपने घर में इन भूमिकाओं को देखती आती है। पारम्परिक दृष्टिकोण से भी यह व्यवहार उनके लिये करना और सीखना आवश्यक होता है। क्योंकि अगर वह ऐसा नहीं करेगी तो लोग उन्हें तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखेंगे। इसलिये इन सभी कारणों और कुछ सामाजिक दबाव एवं अपनी आवश्यकता के अनुसार उन्हें यह व्यवहार सीखना ही पड़ता है।

10.3 किशोरावस्था में परिवार एवं साथी समूह के साथ सम्बन्ध

किशोरावस्था में परिवार और माता–पिता

किशोरावस्था में परिवार के सदस्यों को किशोर और किशोरी के अन्दर हुये परिवर्तन के कारण कई दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। जैसे–जैसे किशोरों का विकास होता है उनके सामने परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध खराब होते जाते हैं और यह सिर्फ एक तरफा नहीं पाया जाता है। गलतियां और कमियां दोनों तरफ से होती हैं। परिवार वालों को अपने बच्चों को समझना चाहिये और बच्चों को अपने माता–पिता को समझना चाहिये। माता–पिता अपनी इस सोच में सुधार ही नहीं करना चाहते हैं कि उनके बच्चे बड़े हो रहे हैं और वक्त बदल रहा है, बल्कि वे अपने बच्चों को वैसा देखना चाहते हैं जैसा कि वह स्वयं अपनी किशोरावस्था में थे। इसलिये वह उनकी आयु के बढ़ने के अनुसार उनसे उम्मीद करते हैं कि वह बड़ों जैसा व्यवहार करें।

यह सारी समस्याएं पीढ़ी दर पीढ़ी (Generation gap) अन्तराल में बदलते मूल्यों और मानकों की वजह से पैदा होती हैं। माता–पिता और उनके बच्चों के बीच एक पीढ़ी का अन्तर होता है, जिसमें उनकी सोच में अन्तर आ चुका होता है। हर पीढ़ी में मूल्यों और मानकों में तेजी से परिवर्तन होता है और बदलती संस्कृति का भी असर पड़ता है। इसलिये हम इसे संस्कृति का अन्तराल भी कहते हैं। बहुत से किशोरों को यह लगता है कि उसके माता–पिता उन्हें नहीं समझते हैं। उसके माता–पिता के व्यवहार एवं मानक पुराने और बीते जमाने के हो गए हैं। यह समस्या पीढ़ी–दर–पीढ़ी के अन्तराल से ज्यादा संस्कृति के अन्तराल के कारण आये परिवर्तनों से उत्पन्न होती है।

किशोरावस्था में परिवार के मनमुटाव का कारण

(1) व्यवहार मानक

किशोरों को प्रायः यह लगता है कि उनके माता–पिता जो भी उन्हें बता रहे हैं या उनका जो व्यवहार है वह पुराने समय का है और वह उन्हें अपनाने को तैयार नहीं हो पाते हैं। उनकी अपनी एक अलग पसंद होती है। उन्हें अपने साथियों और मित्रों के व्यवहार और उनकी बातें ज्यादा पसंद आने लगती हैं।

(2) अनुशासन का तरीका

किशोरावस्था में जब किशोर अपने माता–पिता के अनुशासन और उनके तौर–तरीकों को बचकाना और बेकार समझते हैं तो वह विद्रोह करते हैं। घर में विद्रोह तब और बड़ा रूप ले लेता है जब बच्चे यह समझते हैं कि उनके और साथियों के मुकाबले उनके साथ अधिक शक्ति का प्रयोग किया जा रहा है और उनके माता–पिता उनकी स्वतंत्रता में बाधा पैदा कर रहे हैं। बच्चे स्वतंत्र रहना चाहते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार हर कार्य करना चाहते हैं और अगर उस पर कोई अंकुश लगाता है तो उन्हें वह खटकता है।

(3) भाई–बहन के साथ सम्बन्ध

इस अवस्था में किशोरों के बीच यह भी एक अनोखा परिवर्तन देखने को मिलता है कि किशोर का व्यवहार अपने छोटे भाई बहनों के साथ तिरस्कारपूर्ण हो सकता है और अपने बड़े भाई बहनों के साथ विद्वेषी व्यवहार देखने को मिल सकता है। जैसा कि वह अपने माता–पिता से विद्रोह करते हैं वैसे ही वह भाई बहनों से भी विद्रोहपूर्ण व्यवहार कर सकते हैं और आपस में झगड़ा कर सकते हैं।

(4) उत्पीड़ित महसूस करना

किशोर प्रायः तब भी विद्वेषी बन जाते हैं जब उनके परिवार का सामाजिक आर्थिक स्तर वैसा नहीं होता हैं जैसा कि उनके मित्रों का है। उन्हें कपड़े, कार इत्यादि सब कुछ चाहिये होता है, जैसा कि उनके मित्रों के पास है। कहीं–कहीं किसी परिवार में अगर सौतेले माता या पिता होते हैं और वह बच्चों के ऊपर अपना नियंत्रण रखने लगते हैं, आवश्यकता से अधिक अंकुश लगाने लगते हैं तो भी बच्चे विद्रोह प्रकट करते हैं। अर्थात् यह सारी स्थितियाँ भी माता–पिता और किशोरों के बीच विद्रोहपूर्ण हालात पैदा करते हैं।

(5) अपरिपक्व व्यवहार

माता–पिता को अपने बच्चों के साथ दण्डात्मक व्यवहार नहीं करना चाहिए। जब वह बच्चों के स्कूल के गृह कार्यों, उनके उत्तदायित्वों को पूरा करने और पैसा को बेकार गवाँने पर उन्हें दण्डित करते हैं तो बच्चों में विरोधपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है। माता–पिता को बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये, वरना बच्चों में विरोध की प्रवृत्ति पनपने लगती है।

(6) परिवार का आकार

मध्यम आकार के परिवार जिसमें तीन या चार बच्चे हों, में विरोध की स्थिति छोटे या बड़े परिवार के अपेक्षा ज्यादा बनती हैं। बड़े परिवार यानि अधिक सदस्य वाले परिवार में मनमुटाव को सहन ही नहीं करते। कम सदस्य वाले परिवार में माता–पिता सहमतिपूर्ण व्यवहार करते हैं जिससे बच्चो में विरोध की सम्भावना कम रहती है।

(7) सम्बन्धियों के विरूद्ध विद्रोह

माता–पिता और सम्बन्धियों में गुस्से का प्रदर्शन देखा जाता है यदि किशोर अपनी भावनाएं खुले तौर पर सामने रखता है कि माता–पिता तथा सम्बन्धियों की संगति उबाने

वाली है। किशोर माता–पिता और सम्बन्धियों के सुझाव और सलाह को इन्कार करता है तब भी माता–पिता गुस्सा जाहिर करते हैं।

किशोरावस्था में आगमन के साथ किशोर का ज्यादा से ज्यादा समय अपने दोस्तों के साथ बीतता है या वे उन्हीं के साथ बिताना पसंद करते हैं। माता–पिता के साथ उनका समय कम बीतता है। वे परिवार के सदस्यों के साथ कम समय गुजार पाते हैं। हालांकि परिवार के साथ कम समय बिताने का ये कोई एक कारण नहीं है। जैसे–जैसे बच्चे किशोरावस्था की दहलीज पर पैर रखते हैं और आगे बढ़ते हैं उनमें कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं और यह गुणात्मक परिवर्तन उच्च संज्ञानात्मक और संवेगात्मक परिपक्वता के कारण होते हैं। किशोर जैसे ही संवेगात्मक रूप से परिपक्व होते हैं उनके अन्दर विश्वास पैदा होता है और वह उनके साथी समूह के प्रति ज्यादा होता है। संज्ञानात्मक विकास किशोरों को सही समझ विकसित करने के लिये सक्षम बनाता है और उनकी इच्छाओं, आवश्यकताओं और उनके साथियों के प्रति भावना को स्वस्थ्य बनाता है। मानसिक और संवेगात्मक परिपक्वता का तात्पर्य यह हुआ कि किशोर अब वास्तविक संवेगात्मक सहायता और आराम एक दूसरे को पहुँचा सकते हैं, एक उचित मार्गदर्शन कर सकते हैं और सलाह भी दे सकते हैं। इस प्रकार सिर्फ परिवार ही उनके लिये सामाजिक सहायता प्रदान करने के लिये नहीं रह जाता है।

प्रारम्भिक और मध्य किशोरावस्था के दौरान किशोर और उनके माता–पिता तथा परिवार के बीच मन मुटाव आम बात होती है। प्रायः यह इसलिये होता है क्योंकि किशोर अपनी पहचान के लिये लड़ रहे होते हैं और अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग कर रहे होते हैं। किशोरों को अपने माता–पिता, परिवार के साथ उनके द्वारा बताये गए नियमों और मूल्यों पर विरोध इस Identity Development process का एक हिस्सा होता है। कभी–कभी किशोर इन नियमों और मूल्यों का वह खुले तौर पर विरोध करते हैं। हालांकी दूसरे ही समय वह इस विरोध को अकेले में भी करते हैं। वे कुछ निश्चित मुद्दों पर अपने परिवार में बात करने में रूचि नहीं लेते, दूरी बनाते हैं। क्योंकि उन्हें डर होता है कि माता–पिता या संरक्षक से बात करने पर वह समस्या में पड़ सकते हैं।

एक दूसरा कारण किशोरों का यह भी हो सकता है कि वह माता–पिता से बातचीत इसलिये भी नहीं करना चाहते, क्योंकि वह अपने आपको साबित करना चाहते हैं। किशोर यह दिखाना चाहते हैं कि वह अपनी कठिन परिस्थिति को स्वयं ही संभाल सकते हैं। इसके बजाय जब किशोर अपने मित्रों से और साथियों के पास मदद के लिए आते हैं तो किसी भी मुद्दे पर बातचीत करना ठीक वह समझते हैं। क्योंकि उनके साथी उनके समान स्थिति और शक्ति रखने वाले होते है। माता–पिता से बातचीत करने में वह कतराते हैं।

कभी–कभी किशोर अपने संरक्षक और माता–पिता से बातचीत करना नजर अन्दाज करते हैं। क्योंकि उन्हें यकीन होता है कि उनके माता–पिता उनकी बात नहीं मानेंगे और नहीं सुनेंगे या उनके द्वारा कही गई बातें गम्भीरता से उनके माता–पिता नहीं लेंगे या ध्यान नहीं देंगे। माता–पिता को अपने बच्चों की बातों को सुनने का अवसर अधिक से अधिक देना चाहिए। अगर वे अपने बच्चो की बातों को उनकी उत्पन्न हुई स्थिति में बिना पड़े ही सुनने और सुलझाने का प्रयास करेंगे तो बच्चों को दिक्कत नहीं होगी।

माता–पिता को किशोरों की समस्या तथा मुद्दों को तुच्छ न समझते हुये उसे समझने का प्रयास करना चाहिए।

कभी–कभी किशोर काल्पनिक समस्या बनाकर या अपने मित्रों की समस्या बनाकर अपने माता–पिता के सामने प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि वह देखना चाहते हैं कि उनके माता–पिता इस बात या समस्या पर क्या प्रतिक्रिया देते हैं, इससे उन्हें यह अन्दाज लग जाता है कि यदि यह समस्या खुद उनकी हुई तो माता–पिता कैसी प्रतिक्रिया दिखायेंगे और यह माहौल बनाकर वह अपने आप को सुनिश्चित करते हैं कि उनके साथ कैसा व्यवहार किया जायेगा। वैसे जो समस्या आज के समय में लोगों को मूर्खतापूर्ण और सार्थक नहीं लग रही हैं कुछ सालों बाद अनुभव करने पर वह एक विशाल समस्या बन सकती है किशोरों के लिये। क्योंकि पहली बार किसी एक अमुक स्थिति में होने पर जो अनुभव होता है वो काफी अलग होता है। सामान्यतः माता–पिता का सर्वोत्तम उपागम अपने बच्चों के मार्गदर्शन करने का यही है कि वह उन्हें स्वयं ही समस्याओं के हल ढूँढने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दें और ऐसे अवसर प्रदान करें। जरूरी नहीं है कि बच्चे सही निर्णय ही लें। लेकिन अगर उन्हें अवसर मिलेगा तो उनका अनुभव बढ़ेगा। ऐसे उपागम तथा विधियाँ किशोरों को सक्षम बनाती हैं कि वह स्वतंत्र रूप से निर्णय कर सकें, हो सकता है की उनका निर्णय इतना उचित हो कि उनके माता–पिता भी उन्हें वैसा सुझाव न दे सकें। जब माता–पिता ज्यादा संवेदनशील होते हैं इन मुद्दों पर तो यह स्थिति किशोरों में यह संभावना पैदा करती है कि वह अपने महत्वपूर्ण मुद्दे या समस्यायें अपने माता पिता से बाँटें।

भाग्यवश, यह तनाव और द्वन्द्व किशोरों और माता–पिता के बीच हमेशा के लिये नहीं चलता है। किशोर पुनः उत्तर किशोरावस्था में माता–पिता से ज्यादा करीब हो जाते हैं। सामान्य रूप से यदि किशोर एवं उनके माता–पिता आपस में एक दूसरे से को समझ कर समय व्यतीत किया है। जैसे–एक दूसरे के करीब रहना, विश्वास करना तथा प्यार भरा सम्बन्ध, यदि शुरू से लेकर किशोरावस्था तक दोनों के बीच ऐसा ही सम्बन्ध रहा है तो ये स्थितियाँ उत्तर किशोरावस्था तक भी समान्य रूप से बनी रहती हैं और उन्हें कम तनाव का सामना करना पड़ता हैं।

माता–पिता तथा परिवार एवं किशोरों के बीच तनाव कई कारणों से कम किया जा सकता है। पहला–परिवार वालों की भूमिका किशोरावस्था में बदल चुकी होती हैं। उन्हें अपने बच्चों के साथ एक शासक की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिये। उनके किशोर अब इस योग्य हो चुके होते हैं कि वह अपने आपको नियंत्रित कर सकते हैं। दूसरा–किशोरों के संज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक परिपक्वता के कारण वह इतने योग्य हो गये होते हैं कि वह एक परिपक्व सम्बन्ध की स्थापना किसी के साथ भी बना सकते हैं या निभा सकते हैं। चाहे वह कोई एक व्यक्ति हो या उनके परिवार का कोई सदस्य। परिवार को किशोरों के साथ किशोरावस्था में मैत्रीपूर्ण तथा उनके साथियों की तरह व्यवहार रखना चाहिये।

<u>क्या होती है माता–पिता और परिवार की भूमिका ?</u>

यह कहना बहुत आसान होगा कि माता –पिता तथा परिवार किशोरावस्था में महत्वपूर्ण नहीं हैं। लेकिन सत्य यह है कि परिवार वाले यदि एक सकारात्मक सम्बन्ध बनाये रखते हैं तो वे किशोरावस्था में एक वास्तविक प्रभाव अपने बच्चों के विकास पर

डाल सकते हैं। माता–पिता तथा परिवार एक आदर्श होते हैं। बच्चों के सामने वह एक वयस्क और परिपक्व व्यक्ति जैसा व्यहार करता है या उसे कैसा व्यवहार करना चाहिये?

किशोर प्रायः अपने माता–पिता को सावधानी से निरीक्षण करने वाले होते हैं। माता–पिता और परिवार के सदस्य मॉडलिंग, उन्हें सुनकर या उनसे बातचीत करके उनकी मदद कर सकते हैं। जिससे वह अन्दर एक मूल्य तन्त्र विकसित कर सकें और अपने जीवन का महत्वपूर्ण निर्णय ले सकें।

मैत्रीपूर्ण माहौल घर में बनाना

घर में यदि एक मैत्रीपूर्ण माहौल रहेगा तो किशोर बाहर के अलावा घर में भी आराम और सुविधाजनक स्थिति पायेंगे। जिससे वह ज्यादा से ज्यादा समय घर पर भी दे पायेंगे।

मता–पिता खुद से यह सवाल पूछें–

- क्या आप अपने बेटे या बेटी के दोस्तों को एक सुख या खुशी का अनुभव देते पाते हैं, जब वे आपके घर आते हैं ?
- आपके घर का माहौल अमैत्री पूर्ण या तनावपूर्ण है या तनावरहित है ?
- कितनी उछलकूद या मस्ती आपके घर मे स्वीकार्य है ?
- क्या आपके घर में छोटे और बड़ों की आवश्यकता का ज्यादा ख्याल रखा जाता है किशोरों की अपेक्षा?
- यदि आपका घर एक ऐसा स्थान है जो सकारात्मक मैत्रीपूर्ण और हँसी माजक किया जा सकता है तो वह किशोरों को प्रोत्साहित करेगा कि वह आपके घर में ज्यादा से ज्यादा समय बितायें, लेकिन यदि इसके ठीक विपरीत है तो वह किशोरों के अन्दर एक ऐसी इच्छा पैदा करेगा की वह बाहर अपने मित्रों के साथ समय बिताने के इच्छुक हो जायेगा।

किशोरों को व्यस्त रखें

यह सत्य है कि यदि किशोर ज्यादा से ज्यादा समय स्कूल के बाहर संगठित क्रिया कलापों में देंगे तो वह नकारात्मक साथी समूह के प्रभाव से कम प्रभावित होते हैं।

माता–पिता का लक्ष्य यह नहीं होना चाहिए कि वह अपने बच्चों को मित्रों से दूर रखें बल्कि उनको अपने बच्चों के अन्दर एक ऐसी भावना डालना चाहिये कि वह अपने घर आने पर एक खुशी महसूस करें और उनका स्वागत हो। उनका घर उनके लिये हँसी मजाक करने की स्वतंत्रता देने वाला एक स्थान होना चाहिये ताकि वह बाहर की तरफ आकर्षित न हो, किसी और जगह समय बिताने से अच्छा घर में समय बिताना उन्हें अच्छा लगने लगे।

बच्चों के क्रियाकलापों में उनकी मदद करें, उनके साथ रहें, उनके कार्यों में शामिल हों। यह सब कुछ उन्हें एक उद्देश्य प्रदान करेगा और उनके अन्दर स्वयं के योग्य होने के विचार को विकसित करेगा और एक सकारात्मक परिवेश दूसरे से अंतः क्रिया करने के लिये भी प्रदान करेगा।

आत्मसम्मान को बढ़ावा देना

माता–पिता और परिवार वालों को वह सब कुछ करना चाहिये जिससे वह किशोरों के अन्दर आत्म सम्मान के भाव को बढ़ावा दे सकें। उनके अन्दर ऐसे विचार विकसित करना चाहिये जिससे वह स्वयं पर विश्वास कर सकें और परिवार वालों को भी किशोरों पर विश्वास करना चाहिये।

बच्चे जब सफल हों तो माता–पिता तथा परिवार वालों को खुशी मनानी चाहिये और उनकी असफलताओं से उन्हें सीखने की शिक्षा देनी चाहिये। किशोरों के अन्दर उनका स्वयं का मूल्यतंत्र विकसित करने में उनकी मदद करें और उन्हें यह तसल्ली दें कि वह जो भी कहेंगे या करेंगे परिवार वाले या माता–पिता उसका सम्मान करेंगे।

किशोरों के मित्रों को जानिये

अपने बच्चों के मित्रों को घर पर बुलाइये। उनको जानने का प्रयास करिये और उन्हें भी मौका दीजिये कि वह अपको जान सकें। उनके सामने अपरिचित जैसा व्यवहार मत करिये। अपनी पहली नजर के प्रभाव को मानने से इन्कार करिये।

किशोर जो अलग दिखते हैं और अवांछनीय देखने में लगते हैं, हो सकता है आपका यह प्रभाव गलत हो। वह मित्र आपके बच्चे के लिये सही हो। समान रूप से जो देखने में अच्छा प्रभाव डालें, परन्तु वह आपके बच्चे के ऊपर बुरा प्रभाव डालने लगे।

क्या करें जब चीजें गलत होने लगे ?

परिवार वालों या माता–पिता के लिये कभी–कभी साथी समूह और मित्रगण चिन्ता का विषय होते हैं, जिन्हें उनके बच्चे चुनते हैं। ये मित्र उन्हें जोखिम भरे कार्यों और गैर सामाजिक व्यवहार में सम्मिलित कर सकते हैं। ऐसे में सावधानीपूर्वक अपने को उनसे अलग करना चाहिए।

किशोरावस्था में साथी समूह और मित्र

किशोरावस्था में किशोर के मित्रों तथा साथी–समूहों में भी परिवर्तन होता है। जब कोई ऐसी किसी स्थिति का सामना करता है जो उसके लिये बिल्कुल अलग होती है अपेक्षा उसकी उस स्थिति से जिसका आदती वह अब तक रह चुका है। यह स्थिति उसके लिये एक आघात की भांति होती है। इस प्रकार की हालत बच्चों के साथ भी होती है जब वह यौवनारम्भ की अवस्था से जीवन के दूसरे पड़ाव पर जाते हैं, जिसे किशोरावस्था कहा जाता है। किशोरावस्था की अवस्था बहुत भिन्न होती है। और अवस्थाओं की अपेक्षा यह अवस्था किशोरों के अन्दर संवेगों की एक लड़ी लगा देती है। संवेगों में बहुत परिवर्तन होते हैं। यह उन बच्चों के लिये ज्यादा कठिनाई भरा होता है जिनमें परिवर्तन प्रायः तनावपूर्ण होता है।

बहुत सी विभिन्नताएं साथी समूह के सम्बन्ध के बीच में परिवर्तन पैदा करती हैं। बाल्यावस्था में बच्चे अपने मित्रों का चुनाव सुविधा के आधार पर करते हैं। बच्चे आपस में उनसे मित्रता करते हैं जो उनके काफी करीब होते हैं या जो बच्चे उनकी आवश्यकता के खेलने वाले खिलौने रखे होते हैं। लेकिन किशोरावस्था में मित्रों का चुनाव जनसाधारण के ऊपर निर्भर करता है। किशोरावस्था में किशोर अपने औपचारिक मित्रों को अपने मित्र मण्डली से निकाल देते हैं। क्योंकि इस अवस्था में

मित्रता संवेगात्मक सम्बन्ध पर आधारित होने लगती है। किशोरों के बीच यह बहुत ही सामान्य सी बात है कि वह अपने साथियों से धोखा खा जाये या उनके साथी उन्हें तिरस्कृत कर दें। इस अवस्था में एक अवयव मोह निवारण भी शामिल हो जाता है। किशोरों को यह महसूस होता है कि पहले विश्वास किये गए विचार जरूरी नहीं हैं कि सत्य ही हों।

किशोरावस्था मे किशोरों के अन्दर सनक पैदा हो जाती है जिसकी एक महत्वपूर्ण भूमिका इस अवस्था में होती है। बाल्यावस्था के दौरान सनक एक सामान्य सी बात होती है और बच्चे अपने आप ही उन्हीं वस्तु को इच्छा करते हैं जो मशहूर हैं या सामान्य हैं। लेकिन जब वह उस वस्तु को प्राप्त करने में असमर्थ होता है तो वह अपने परिवार का सहयोग चाहता है उसे प्राप्त करने में और अपने माता–पिता के सहयोग से किसी भी तरह चिल्लाकर या झगड़कर उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करता है। हालांकि किशोरावस्था के दौरान उनके अन्दर एक अति तीव्र अन्तर्नाद होता है और वह उन बातों के विरोध में होता है जो बाल्यावस्था से जुड़ी होती हैं, वह अपने परिवार वालों पर भी आश्रित नहीं रहना चाहते हैं। इस कड़ी में किशोर जो अपने इच्छा की वस्तु नहीं प्राप्त कर पाते हैं तो वह अपने परिवार के बीच सांत्वना प्राप्त करने नहीं जाते हैं। किसी के द्वारा छोड़े जाने या तिरस्कृत किया जाने का एहसास इस अवस्था में किशोरों पर बहुत बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। क्लब वगैरह एक ऐसी जगह होती है जहाँ पर किशोर लोगों से जुड़ने का प्रयास करते हैं और कई लोगों को अपनी मित्र मण्डली से बाहर भी कर देते हैं। यह बहुत ही कष्टकारी होता है किशोर के लिये जब वह किसी के द्वारा छोड़ दिया जाये या तिरस्कृत कर दिया जाये। लेकिन यह एक अतिविशिष्ट अवयव है इस अवस्था के लिये।

किशोरावस्था में किशोरों के अन्दर संवेगात्मक परिपक्वता बढ़ती है और उनके साथी के चुनाव में परिवर्तन देखा जाता है। किशोर धीरे–धीरे संवेदनशील तथा आत्मीय होने लगते हैं। अपने साथियों के साथ। परन्तु किशोर अपने साथियों के प्रति संवेदनशील और आत्मीय सम्बन्ध बना पाते हैं जब साथी उनका विश्वास पात्र बन जाता है। इस प्रकार किशोरावस्था के दौरान साथी समूह धीरे–धीरे बहुत ही महत्वपूर्ण होता जाता है। जैसे–जैसे किशोर इस सम्बन्ध के आगे बढ़ते हैं या अनुभव करतें हैं। इस तरह अपने साथियों के साथ किशोर को एक संतोषजनक अनुभूति होती है। किशोर आपस में एक दूसरे की तरफ आकर्षित होते हैं और मित्रवत होते हैं। अपने परिवार की अपेक्षा वह साथियों से ज्यादा करीब होते हैं। मित्र उनके लिये सहायता की पहली कड़ी होते हैं जब भी उन्हें कोई समस्या होती है। साथियों के ऊपर बढ़ रहे भरोसे के दूसरे तरीके में हम लें तो हम यह कह सकते हैं कि किशोर इस बात से यह साबित करना चाहते हैं कि वह आत्मनिर्भर बन रहे हैं और अब किसी के सहारे के जरूरत उन्हें नहीं है।

यदि किशोर अपने साथियों के द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं तो यह साथी समूह बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। क्योंकि किशोर अपने साथियों को देखकर अपनी वाणी, कपड़े या पहनावे, व्यवहार पसंद और क्रियाकलाप को सुधारते हैं। साथियों के

समान बनने में इस प्रकार की वृद्धि किशोरों में एक सुरक्षा का भाव प्रदान करती है और यह भी कि अपने साथियों के बीच वह मान्य है।

10.4 सारांश

किशोरावस्था में शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन होते हैं। बालक में परिणाम स्वरूप नई रूचियों का विकास होता है।

किशोरावस्था की रूचियाँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि उसका लिंग क्या है, उसकी बुद्धि कितनी है, उसे सीखने के कितने अवसर मिलते है, उनके हम उम्र किन बातों में रूचि लेते हैं, उसके परिवार वालों की क्या रूचियाँ हैं। फिर भी किशोरों की रूचियाँ सामाजिक, व्यक्तिगत एवं मनोरंजन सम्बन्धी रूचियों में वर्गीकृत की जा सकती हैं।

पूर्व किशोरावस्था में किशोरों में लैंगिक रूचियों का भी विकास होने लगता है। इनकी लैंगिक रूचियाँ अधिकतर शारीरिक अंतरों पर केन्द्रित होती हैं। लैंगिक क्षमताओं के यौवनारम्भ के समय होने वाले विकास के साथ किशोर की विषमलिगिंयों के प्रति रूचि का रूख कुछ बदल जाता है। किशोरावस्था के प्रारम्भ के दिनों में जो नई रूचि उत्पन्न होती है उसका स्वरूप प्रणयात्मक होता है।

विषमलिंगियों में रूचि का होना एक मात्र लैंगिक परिपक्वता पर निर्भर नहीं होता है। विषमलिगिंयों में किशोर की रूचि पर उसके मित्रों की रूचि के प्रकारों का अधिक प्रभाव पड़ता है।

यौवनारम्भ में विषमलिंगियों के प्रति लाक्षणिक रूप से द्वेष का भाव होता है, जो बदलते–बदलते प्रेम का रूप ले लेता है। इस संक्रमण काल में लड़के व लड़कियों का अपने ही लिंग के, अपने से किसी बड़े व्यक्ति से जिसके गुणों की वे श्लाघा करते हों, स्नेह होना और फिर बाद में अपने से किसी निश्चित रूप से बड़े विषमलिंगी व्यक्ति से उनका स्नेह होना साधारण बात है।

किशोरों में विषमलिंगियों में रूचि पैदा होने के साथ हमेशा उनका ध्यान खींचने की इच्छा हो सकती है। उनके अनेक रूप हो सकते हैं। जैसे– आडम्बरपूर्ण हावभाव, आसाधारण पोशाक, भाषा और बाल सवाँरने के असाधारण ढंग, व्यक्ति का ध्यान खींचना है। उसके प्रति ऊपर से उदासीनता दिखाना और धृस्टता का व्यवहार करना तथा किसी को दुलारना। विषमलिगिंयो को आकर्षित करने के इच्छा के बावजूद नव किशोर और नवकिशोरियाँ उस समय बहुत ही झेंप जाते हैं और आत्म चेतना युक्त हो जातें हैं जब उनकी यह इच्छा पूरी हो जाती है। क्षेंप और आत्म चेतना एवं मूक व्यवहार से प्रकट हो सकती है। लेकिन अधिकतर किशोर व किशोरियाँ अपनी–अपनी झेंप को छिपाने की कोशिश करते हैं और इसलिये जोर–जोर से उन्मुक्त हँसी हसते हैं। विषमलिंगियों के प्रति आक्रामक प्रतिक्रियायें करते हैं तथा कुछ बात न होने पर भी बहुत ज्यादा बात करते हैं।

उत्तर किशोरावस्था में धीरे–धीरे किशोरों में रूमानी आशक्ति आ जाती है। यह रूमानी आशक्ति प्रायः इतनी तीव्र होती है और प्रेमीयुगल इसमें इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें कोई दूसरी बात सोचने या करने का समय ही नहीं मिलता है और वह सामूहिक

क्रियाकलाप के साथ अपनी प्रेमिका के साथ रहना पसन्द करता है। किशोरों में नायक पूजा के स्थान पर रूमानी आसक्ति तो आती ही है उनके लिये डेटिंग सामाजिक व्यवहार का एक स्वीकृत रूप बन जाता है। डेटिंग के अनेक प्रकार होते हैं और उनमें गम्भीरता

की मात्रायें अलग–अलग होती हैं। इसमें भाग लेने वाले अनेक होते हैं और उनके बीच कोई समझौता नहीं होता है। यह समान स्वभाव वाले मित्रों का एक सुखद अनुभव मात्र होता है जिसमें संवेगात्मक उलझन कम से कम होती है। इसे प्रायः बहुतों के साथ डेटिंग कहा जाता है और इस तरह का अनुकूल स्वभाव वाले किसी विषमलिगीय की खोज का साधन होता है जो कालान्तर में जीवन साथी बन सके। आगे चलकर अनेक व्यक्तियोंके बजाय केवल एक से सदा डेटिंग करना, आमतौर पर डेटिंग के आरम्भ के 1 या 2 वर्ष बाद शुरू होता है बड़ा किशोर कितनी डेटिंग करेगा यह बात बहुत कछ इस पर निर्भर होती है कि उसकी डेटिंग में स्थिरता कितनी जल्दी आती है। औसत रूप से लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक डेटिंग करती हैं और उनकी डेटिंग में जल्दी स्थिरता आ जाती है।

किशोरावस्था ज्यों–ज्यों आगे बढ़ती जाती है। त्यों–त्यों नवकिशोर के अपने परिवार के लोगों से सम्बन्ध खराब होते जाते हैं। इसमें दोष दोनों का ही होता है। किशोरावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में लड़के–लड़की के सम्बन्ध केवल माता–पिता से ही नहीं बिगड़ते हैं बल्कि अन्य लोगों से भी बिगड़ते हैं। नव किशोर छोटे भाई–बहनों के साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार करता है और जो कुछ वे कहते हैं या करते हैं उसमें हमेशा दोष निकालता रहता है। जब रिश्तेदार उसके व्यवहार की कोई कमी निकालते हैं तो उसे बहुत बुरा लगता है और यदि वे उसे किसी तरह की राय देते हैं तो भी उसे बुरा लगता है।

जैसे–जैसे किशोरावस्था बढ़ती जाती है वैसे–वैसे माता–पिता समझने लगते हैं कि अब वे बच्चे नहीं हैं और इसलिए उन्हें अधिकार देने लगते हैं। और माता–पिता या किशोर नई स्थिति के साथ समायोजन कर लेते हैं तब पूर्व किशोरावस्था में माता–पिता और बच्चे के संबंध में जो तनाव हुआ करता है तो वह आमतौर पर शिथिल होता जाता है और घर में रहना पहले की अपेक्षा सुखदाई हो जाता है।

बड़े किशोर का अपने माता–पिता और सहोदर से जिस प्रकार का संबंध होता है उसके अनुसार ही उसका उनके प्रति भाव और व्यवहार होता है। बड़े किशोर के व्यवहार के तरीकों और अभिवृत्तियों की जड़ें घर और समुदाय के परिवेशों में होती है और उत्तर किशोरावस्था तक वे इतने पक्के हो जाते हैं कि उन्हें बदलना कठिन हो जाता है।

प्रणयात्मक	निवेदनात्मक
विषमलिंगी	विपरीत लिंग के
श्लाघा	प्रशंसा
आड़म्बरपूर्ण	बनावटी
रूमानी आसक्ति	विपरीत सेक्स के प्रति प्रेमपूर्ण लगाव
स्होदर	एक माँ के संतान
मैत्रीपूर्ण माहौल	मित्रवत परिवेश
अनुमोदित लैंगिक भूमिका	इसका तात्पर्य ऐसे व्यवहार से है जो उनके लिंग से सम्बन्धित उचित और प्रासंगिक होता है।

10.6 स्वमूल्यांकन

1. किशोरावस्था में ....संगत व्यवहार का अधिगम आवश्यक होता है।

2. लैंगिक रूचियों तथा व्यवहारों को ....विभक्त कर सकते हैं।
3. किशोरावस्था में किशोरों के अन्दर ....परिपक्वता बढ़ती हैं।
4. लैंगिक रूचियाँ अधिकतर................................पर केन्द्रित होती है।
5. उत्तर किशोरावस्था में किशोरों में ....आसक्ति आ जाती है।
6. उत्तर किशोरावस्था में किशोरों का ज्यादा समय अपने..................... के साथ बीतता है।

उत्तर (1)–लिंग(2)दोवर्गों में(3)संवेगात्मक(4)शारीरिक अन्तरों(5)रूमानी(6) दोस्तों

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) Adelson, J. (1980) : HandBook of Adolescent Phychology.

(2) Hur Lock, E.B. (1984) : Developmental Psychology, Mc Graw Hill.

(3) Lal, J.N. & Srivastava, Anita (Sixth Edition 2012/13): नवीन विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा।

(5) Singh, R.N. (2009) : आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा।

(6) Winder, Z, Human Development. Alfredknof N.Y.

(7) Labert : Developmental Psychology. Sage Publication, New Delhi.

10.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. किशोरावस्था में विकसित होने वाले यौन रूचि एवं व्यवहारों का वर्णन कीजिये।
2. किशोरावस्था में परिवार एवं साथी समूह के साथ किशोरों का संबंध कैसा रहता है। वर्णन कीजिए।